सस्ती ग्रंथमाला का २१ वां पुष्प

प्रकाशक
सस्ती ग्रन्थमाला
धर्मपुरा देहली

प्रथम संस्करण १०००
चैत्रबदी १३ सं० २००८
मूल्य बारह आने

मुद्रक—
त्यागी फाइन आर्ट प्रेस
कटरा खुशहालराय दिल्ली

❀ आद्य वक्तव्य ❀

मानव शरीर के कारण यह आत्मा अपने गुणोंका पूर्ण विकास कर सकता है इसीलिए मनुष्यभव को सबसे महान् माना गया है। यह साधारण आत्मा इस मानुषीय शरीर द्वारा ही परम आत्मा बनकर पतित से पावन हो जाता है। मनुष्य यदि समुचित दिशा में समुचित यत्न करे तो निःसन्देह भक्त से भगवान् बन जाता है।

इस आध्यात्मिक उन्नति का रहस्य सद्विवेक, सद्ज्ञान और सच्चारित्र में अंतर्निहित है। सद्विवेक या सत्यश्रद्धा प्रत्येक सफलता का आद्य कारण है, सत्यज्ञान उसकी पुष्पित दशा है और सच्चारित्र सफलता का फलितरूप है। तीनों उपायों में से जो भी उपाय न होगा या निर्बल होगा अथवा कम होगा उतने ह अंशों में सफलता भी अधूरी होगी। इस कारण आध्यात्मिक सफलता के लिए इन तीनों उपायों का प्राप्त होना भी परम-आवश्यक है। इन तीनों को 'रत्नत्रय' नाम से कहा जाता है।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के महान् तार्किक, वाग्मी, वादी और कवि श्री समन्तभद्र आचार्य ने जन कल्याण के लिए उसही सद्विवेक, सद्ज्ञान और सच्चारित्ररूप रत्नत्रय को अपने १५० श्लोकों के छोटे से ग्रन्थ में बड़ी सुन्दरता के साथ रक्खा है जिसका नामकरण भी उन्होंने 'रत्नकरण्ड' रक्खा। इस ग्रन्थ का प्रत्येक पद्य और उन पद्यों का प्रत्येक शब्द सूत्र रूप में महान् अर्थ को प्रगट करता है। मानव धर्म क्या है ? किस तरह वह प्राप्त होता है ? आदर्श एवं पूज्य क्या है ? क्या उसकी मान्यता या पूजा है ? सुख क्या है ? सुखाभास क्या है ? आदि अनेक उपयोगी बातों का विवेचन श्री समन्तभद्र आचार्य ने इस ग्रन्थ

में बड़े संक्षिप्त शब्दों में बड़ी सुन्दरता से किया है, उन शब्दों का विवेचन विद्वान् व्यक्ति जितना विस्तार से करना चाहे कर सकता है ।

तदनुसार इस ग्रन्थ की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की है। प्रस्तुत व्याख्यान श्रीमान् पं० भूरामल जी शास्त्री ने की है। शास्त्री जी संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् हैं उन्होंने 'जयोदय' नामक महाकाव्य संस्कृत भाषा में बनाया है, एक और भी संस्कृत काव्य बनाया है जो कि अभी प्रकाशित नहीं हो पाया है। शास्त्री जी ने 'रत्नकरण्ड' की इस भाषा व्याख्या का नाम 'मानव धर्म' रक्खा है।

मानवधर्म को विद्वान् लेखक ने सरल हिन्दी भाषा में लिखकर रत्नकरण्ड को सर्वसाधारण के लिए विशेष उपयोगी बनाने की चेष्टा की है जिसमे कि वे अच्छे सफल हुए है। प्रस्तुत पुस्तक मानवधर्म का आद्य-अंश है इसमें शास्त्री जी ने आध्यात्मिक उत्थान के मूल 'सद्विवेक' (सत्यश्रद्धा-सम्यग्दर्शन) की खुलासा व्याख्या की है, इसके स्वाध्याय से साधारण व्यक्ति भी अच्छा लाभ उठा सकेंगे।

धर्म प्रचार तथा ज्ञानप्रचार के आदर्श प्रेमी पू० श्री १०५ क्षुल्लक चिदानन्द जी महाराज उपयोगी साहित्य को सुलभ बनाने में सदा सचेष्ट रहते हैं। तदनुसार आपने इस मानव-धर्म को सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित करने की व्यवस्था की है। इस दृष्टि से दोनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है इस पुस्तक से जनता का महान लाभ होगा।

फाल्गुन बदी ५
वीर सं० २४७८

अजितकुमार जैन शास्त्री
देहली।

❀ मानव धर्म ❀

(१) मानवता वह विशेष गुण है जिसके बिना मानव मानव नहीं कहला सकता। मानवता उस व्यवहार का नाम है जिससे दूसरों को दुःख न पहुँचे, उनका अहित न हो, एक दूसरे को देख कर क्रोध की भावना जागृत न हो। संक्षेप में सहृदयता-पूर्ण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है।

(२) मनुष्य वही है जो आत्मोद्धार में प्रयत्नशील हो।

(३) मनुष्यता वही आदरणीय होती है जिसमें शान्तिमार्ग की अवहेलना न हो।

(४) मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सदाचारता और विश्वास पात्रता है।

(५) मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है।

(६) प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से ही लाभदायक होती है। यदि मनुष्य पर्याय का सदुपयोग किया जावे तो देवों को भी वह सुख नहीं जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

(७) आत्मगौरव इसी में है कि विषयों की तृष्णा से बचा जाये, मानवता का मूल्य पहिचाना जाए।

(८) वह मनुष्य मनुष्य नहीं जो नीरोग होने पर भी आत्म-कल्याण से विमुख रहे।

(९) चञ्चलता मानवता का दूषण है।

(१०) मनुष्यजन्म प्राप्त करना सहज नहीं यदि इसकी सार्थकता चाहते हो तो अपने दैनिक कार्यों में पूजा और स्वा-

ध्याय को महत्त्व अवश्य दो, परस्पर तत्त्व-चर्चा करो, कलह छोड़ो और सहनशील बनो।

(११) मानव-पर्याय की सार्थकता इसी में है कि आत्मा निष्कपट रहे।

(१२) संसार में वे ही मनुष्य-जन्म को सफल बनाने की योग्यता के पात्र हैं, जो असारता में से सार वस्तु के पृथक् करने में प्रयत्नशील हैं।

(१३) जिसने इस अमूल्य मानवजीवन से स्वपर शान्ति का लाभ न लिया उसका जन्म अर्कतूल के सदृश किस काम का ?

(१४) मनुष्य वही है जो अपनी आत्मा को संसार दुःख से मुक्त करने की चेष्टा करे। संसार के दुःखहरण की इच्छा यदि अपने लक्ष्य को दृष्टि में रखकर नहीं हुई, तब वह मानव महापुरुषों की गणना में नहीं आता।

(१५) मनुष्य वही है जो अपने वचनों का पालन करे।

(१६) सबसे ममत्व त्याग कर अपना भविष्य निर्मल करो।

(१७) संसार स्नेहमय है। इस स्नेह पर जिसने विजय पाली वही मनुष्य है।

(१८) मनुष्य जन्म में ही आत्मज्ञान होता है, सो नहीं, चारों ही गति आत्मज्ञान में कारण हैं परन्तु संयम का पात्र यही मनुष्यजन्म है, अतः इसका लाभ तभी है जब इन पर-पदार्थों से ममता छोड़ी जावे।

(१९) मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करे। मेरी सम्मति से लक्ष्य वह होना चाहिये जिससे पर को पीड़ा न पहुंचे।

(२०) मानव जाति सबसे उत्तम है, अतः उसका दुरुपयोग कर उसे संसार का कण्टक मत बनाओ। इतर जाति को कष्ट देकर मानव जाति को दानव कहलाने का अवसर मत दो।

(२१) मनुष्यायु महान पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय में होता है। संयम निवृत्ति रूप है और निवृत्ति का मुख्य साधन यही मानव शरीर है।

(२२) संसार की अनन्तानन्त जीव राशि में मनुष्य संख्या बहुत थोड़ी है। किन्तु यह अल्प होकर भी सभी जीव राशियों में प्रधान है। क्योंकि मनुष्य पर्याय से ही जीव निज शक्ति का विकास कर संसार परम्परा को, अनादि कालीन मार्मिक दुःख सन्तति को समूल नष्ट कर अनन्त सुखों का आधार परमपद प्राप्त करता है।

(२३) मनुष्य वही है जो पर की झंझटों से अपने को सुरक्षित रखता है।

(२४) मनुष्य वही प्रशस्त है जो दृढ़ाध्यवसायी हो।

(२५) मनुष्य वही है जिसमें मनुष्यता का व्यवहार है। मनुष्यता वही है जिसके होने पर स्वपरभेद-विज्ञान हो जावे। स्वपर भेद विज्ञान वही है जिसके सद्भाव में आत्मा सुमार्गगामी रहता है। सुमार्ग वही है जिसमें आत्मपरणति निर्मल रहती है और आत्मनिर्मलता वही है जिससे मानव मानवता का पुजारी कहलाता है।

(२६) संयम का उदय इसी मानव पर्याय में होता है अतः संसार नाश भी इसी पर्याय में होता है, क्योंकि संयमगुण आत्मा को संसार के कारणभूत विषयों से निवृत्त करता है।

* शान्ति *

(१) शान्ति का मूल कारण अशान्ति ही है। जब तक अशान्ति का परिचय हम को नहीं तभी तक हम इस दुःखमय संसार में भ्रमण कर रहे हैं। यदि आपको अशान्ति का अनुभव होने लगा तब समझिये कि आपका संसार तट निकट ही है।

(२) आभ्यन्तर शान्ति के लिये कषाय कृश करने की आवश्यकता है, उसी ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

(३) शान्ति का स्थायी स्थान निर्मोही आत्मा है।

(४) संसार में वही आत्मा शान्ति का लाभ ले सकता है जिसने परकेद्वारा सुख दुःख होने की कल्पना को त्याग दिया है।

(५) अन्तरङ्ग शान्ति के आस्वाद में मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। और वह प्रायः उन्हीं जीवों के होती है जिनके स्वपरभेद ज्ञान हो गया और जो निरन्तर पर्याय तथा पर्याय सम्बन्धी वस्तुजात में उदासीन रहते है।

(६) मिसरी का मधुर स्वाद केवल देखने से नहीं आ सकता, आत्मगत शान्ति का स्वाद वचन द्वारा नहीं आ सकता।

(७) शान्ति का मार्ग आकुलता के अभाव में है, वह निज में है, निजी है, निजाधीन है, परन्तु हम ऐसे पराधीन हो गये हैं कि उसको लौकिक पदार्थों में देखते है, उसकी उपासना में आयु पूर्ण कर रहे है। शान्ति प्राप्त करने के लिये स्वात्म सम्बन्धी कलुषित भावों को दूर करो, यही अमोघ उपाय है।

(८) शान्ति का आस्वाद उन्हीं की आत्मा में आता है जो पर पदार्थ से विरक्त हैं।

(९) शान्ति का मूल मन्त्र मूर्च्छा की निवृत्ति है। जितनी निवृत्ति होगी अनायास उतनी ही शान्ति मिलेगी शान्ति के

बाधक कारण हमारे ही कलुषित भाव हैं, संसार के पदार्थ उनके बाधक नहीं। तथा उनके त्याग देने से भी यदि अन्तरंग मूर्छा की हीनता न हो तब शान्ति का लाभ नहीं हो सकता, अतः शान्ति के लिये निरन्तर अपनी कलुषता का अभाव करने में ही सचेष्ट रहना श्रेयस्कर है।

(१०) शान्ति का मूल कारण समता है।

(११) वास्तव में शान्ति वह है जो प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में होती है और वही नित्य है।

(१२) प्रतिपक्षी कषाय के अभाव में जो शान्ति होती है वह प्रत्येक समय हर एक अवस्था में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि असंयमी के ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं होती जो कि संयमी के भोजनादि के समय भी रहती है।

(१३) जितना बाह्य परिग्रह घटता है, आत्मा में उतनी ही शान्ति आती है।

(१४) शान्ति का उपाय अन्यत्र नहीं। अन्यत्र खोजना ही अशान्ति का उत्पादक और शान्ति के नाश का कारण है।

(१५) "आत्मा को शान्ति का उपाय मिले" इसके लिये हमें यत्न करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मा शान्तिमय है, अतः हमारी जो श्रद्धा है कि हमारा जीवन दुःखमय है, कण्टकाकीर्ण है उसी को परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

(१६) परके उपदेश से आत्म-शान्ति नहीं मिलती परउपकार भी आत्म-शान्ति का उपाय नहीं। उसका मूल तो कायरता का त्याग करना, उत्साहपूर्वक मार्ग में लगना और संलग्नतापूर्वक यत्न करना है।

(१७) अविरत अवस्था में वीतराग भावों की शान्ति को अनुभव करने का प्रयास शशशृंग के तुल्य है।

(१८) शान्ति कोई मूर्त्तिमान पदार्थ नहीं, वह तो एक निराकुल अवस्था रूप परिणाम है यदि हमारी इस अवस्था में शरीर से भिन्न आत्मप्रतीति हो गई तो कोई थोड़ी वस्तु नहीं। जब कि अग्नि की छोटी सी भी चिनगारी सघन जंगल को जला सकती है तो आश्चर्य ही क्या यदि शान्ति का एक अंश भी भयानक भव वन को एक क्षण में भस्मसात् कर दे।

(१९) संसार में जो इच्छा को हटा देगा वही शान्ति का अधिकारी होगा।

(२०) जब तक अन्तरंग परिग्रह न हटेगा तब तक बाह्य वस्तुओं के समागम में हमारी सुख दुःख की कल्पना बनी रहेगी, जिस दिन वह हटेगा, कल्पना नष्ट हो जायगी और बिना प्रयास के शान्ति का उदय हो जायगा।

(२१) पद के अनुसार शान्ति आती है। गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शांति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। भोजन बनाने से उसका स्वाद आजावे यह संभव नहीं, रसास्वाद तो चखने में ही आवेगा।

(२२) शुभाशुभ उदय में समभाव रखना शान्ति का साधन है।

(२३) सद्भावना में ही शान्ति और सुख निहित है।

(२४) पुस्तकादि को पढ़ने से क्या होता है, होने की प्रकृति तो आभ्यन्तर में है। शान्ति का मार्ग मूर्छा के अभाव में है सद्भाव में नहीं।

(२५) जहां शान्ति है वहां मूर्छा नहीं और जहां मूर्छा है वहां शान्ति नहीं।

(२६) शान्ति अपनी परिणतिविशेष है। उसके बाधक कारण जो हमने मान रखे हैं वे नहीं हैं किन्तु हम स्वयं ही अपनी विरुद्ध मान्यता द्वारा बाधक कारण बन रहे हैं। उस विरुद्ध भाव को मिटा दें तो स्वयमेव शान्ति का उदय हो जावेगा।

(२७) समाज का कार्य करने में शान्ति का लाभ होना कठिन है। शान्ति तो एकान्तवास में है। आवश्यकता इस बात की है कि उपयोग अन्यत्र न जावे।

(२८) जो स्वयं अशान्त है वह अन्य को क्या शान्ति पहुंचायेगा।

(२९) संसार में यदि शान्ति की अभिलाषा है तब इसमें तटस्थ रहना चाहिये। गृहस्थावस्था में परिग्रह बिना शान्ति नहीं मिलती और आगम में परिग्रह को अशान्ति का कारण कहा है, यह विरोध कैसे मिटे ? तब आगम ही इसको कहता है कि न्याय पूर्वक परिग्रह का अर्जन दुःखदायी नहीं तथा उसमें आसक्ति का न होना ही शान्ति का कारण है। जहां तक बने द्रव्य का सदुपयोग करो, विषयों में रत न होओ।

(३०) धार्मिक चर्चा में समय व्यतीत करना शान्ति का परम साधक है।

(३१) अशान्ति का उदय जहां होता है और जिससे होता है उन दोनों की ओर दृष्टि दीजिए और अपने आत्मस्वरूप को पहिचानिये, सहज झंझट दूर करने की कुंजी मिल जायगी।

(३२) जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा, शान्ति का राज्य मिल जायगा। केवल पदार्थों के छोड़ने से शान्ति का मिलना अति कठिन है।

(३३) भोजन की कथा से क्षुधानिवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा, क्षुधा निवृत्ति नहीं। उसी प्रकार शान्ति के बाधक कारणों को हेय समझने से शान्ति का मार्ग दिखेगा, शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायगा।

(३४) आत्मा स्वभाव से अशान्त नहीं, कर्म कलंक के समागम से अशान्त हो रहा है। कर्म कलंक के अभाव में स्वयं शान्त हो जाता है।

(३५) आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो पर के सम्बन्ध से 'संसारी' और पर के सम्बन्ध के बिना मुक्त ऐसे दो प्रकार के भाव को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध करने वाले और न करने वाले हम ही हैं। अनादि काल से विभाव शक्ति के विचित्र परिणमन से हम नाना पर्यायों में भ्रमण करते हुए स्वयं नाना प्रकार के दुःखों के पात्र हो रहे हैं। जिस समय हम ज्ञायकभाव में होने वाले विकृत भाव की हेयता को जानकर उसे पृथक करने का भाव करेंगे उसी क्षण शान्ति के पथ पर पहुंच जावेंगे।

(३६) पदार्थ को जानने का यही तो फल है कि आत्मा को शान्ति मिले। परन्तु वह शान्ति ज्ञान से नहीं मिलती, न इस प्रवृत्ति रूप व्रतादिकों से ही उसका आविर्भाव होता है, और न संकल्प कल्पतरु से कुछ आने जाने का है। सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिये रागादिक भावों को हटाना पड़ेगा क्योंकि शान्ति का वैभव रागादिक भावोंके अभाव में ही निहित है।

(३७) केवल वचनों की चतुरता से शान्तिलाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

(३८) अनेक महानुभावों ने बड़े बड़े तीर्थाटन किये, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराई, मन्दिर निर्माण किये, षोडशकारण,

दशलक्षण और अष्टान्हिका व्रत किये, बड़ी बड़ी आयोजना करके उन व्रतों के उद्यापन किये, परन्तु इन्हें शान्ति की गन्ध न मिली। अनेक महाशयों ने महान् महान् आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, प्रतिवादी मत्त मतङ्गजों का मान मर्दन किया, अपने पाण्डित्य के प्रताप से महापण्डितों की श्रेणी में नाम लिखाया, तो भी उनकी आत्मा में शान्तिसमुद्र की शीतलता ने स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार अनेक गृहस्थ गृहवास त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा के पात्र हुए तथा अध्ययन अध्यापन आचरणादि समस्त क्रिया कर तपस्वियों में श्रेष्ठ कहलाये जिनकी कार्यसौम्यता और वचन पटुता से अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हो गये परन्तु उनके ऊपर शान्तिप्रिया मुक्तिलक्ष्मी का कटाक्षपात भी न हुआ। इससे सिद्ध है कि शान्ति का मार्ग न वचन में है न काय में है और न मनोव्यापार में है। वास्तव में वह अपूर्व रस केवल आत्मद्रव्य की सत्य भावना के उत्कर्ष ही से मिलता है।

(३६) सर्व सङ्कल्प को छोड़कर एक स्वात्मोन्नति करो, वही शान्ति की जड़ है।

(४०) ध्यान करते समय जितनी शान्ति रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार का नाश होगा।

(४१) संसार में शान्ति के अर्थ अनेक उपाय करो, परन्तु जब तक अज्ञानता है, शान्ति नहीं मिल सकती।

(४२) संसार में जितने कार्य देखे जाते हैं, सब कषाय भाव के हैं। इसके अभाव का जो कार्य है वही हमारा निज रूप है, शान्तिकारक है।

(४३) शान्ति से ही आनन्द मिलेगा। अशान्ति का कारण मूर्च्छा है और मूर्च्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन बाह्य कारणों से न बचोगे, शान्ति का मार्ग कठिन है।

(४४) शान्ति के कारण सर्वत्र हैं, परन्तु मोही जीव कहीं भी रहे उनके लाभ से वंचित रहता है।

(४५) शान्ति का लाभ अशान्ति के आभ्यन्तर बीज को नाश करने से होता है।

(४६) संसार में कहीं शान्ति न हो सो बात नहीं। शान्ति का मार्ग अन्यथा मानने से ही संसार में अशान्ति फैलती है। यथार्थ प्रत्यय के बिना साधु भी अशान्त रहता है।

(४७) ममता के त्याग बिना समता नहीं और समता के बिना तामस भाव का अभाव नहीं। जब तक आत्मा में कलुषता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है।

* कर्त्तव्य *

(१) मन मे जितने विकल्प पैदा होते हैं उनसे यदि सहस्रांश भी कार्य रूप में परिणत कर लिए जांय तो समझो कर्त्तव्यशीलता के सम्मुख हो गये।

(२) जो कर्त्तव्यपरायण होते हैं वे व्यर्थ विकल्प नहीं करते।

(३) यदि कर्त्तव्य की गाड़ी लाईन पर आ गई तो समझो अभीष्ट नगर पास है।

(४) स्वयं सानन्द रहो, दूसरों को भी कष्ट मत पहुँचाओ जीवन को सार्थक बनाओ यही मानव जीवन का कर्त्तव्य है।

(५) यह जीव आज तक निमित्त कारणों की प्रधानता से ही आत्म-तत्त्व के स्वाद से वञ्चित रहा। अतः स्व की ओर ही दृष्टि रखकर श्रेयोमार्ग की ओर जाने की चेष्टा करना मुख्य कर्त्तव्य है।

(६) महर्षियों या आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण कर और अपनी मनोवृत्ति को स्थिर कर स्वार्थ या आत्मा की सिद्धि करना मनुष्यों का कर्त्तव्य होना चाहिये।

❀ कल्याण का मार्ग ❀

(१) जिन कार्यों के करने से संक्लेश होता है उन्हें छोड़ने का प्रयास करो, यही कल्याण का मार्ग है।

(२) कल्याण का उदय केवल लिखने, पढ़ने या घर छोड़ने से नहीं होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयों से विरक्त रहने से होगा।

(३) कल्याण के पथ पर वाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं। कालादिक जो उदासीन निमित्त हैं वे तो शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों की प्राप्ति में समान रूप से कारण हैं, चरम शरीरादिक सब उपचार से कारण हैं। अतः मुख्यतया एकत्व परिणत आत्मा ही संसार और मोक्ष का प्रधान कारण है।

(४) श्रद्धापूर्वक पर्याय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना ही कल्याण का मार्ग है।

(५) कल्याण का मार्ग वाह्य त्याग से परे है और वह आत्मानुभवगम्य है।

(६) कल्याण का पथ बातों से नहीं मिलता; कषायों के सम्यक् निग्रह से ही मिलेगा।

(७) यदि हमको स्वतन्त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा कल्याण का मार्ग दूर नहीं।

(८) कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे आत्मज्ञान हो गया है।

(९) इस भव में वही जीव आत्मकल्याण करने का अधिकारी है जो पराधीनता का त्याग करेगा, अन्तरङ्ग से अपने ही में अपनी विभूति को देखेगा।

(१०) निरंतर शुद्ध पदार्थों के चिन्तवन में अपना काल बिताओ, यही कल्याण का अनुपम मार्ग है।

(११) स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खानि है।

(१२) आडम्बरशून्य धर्म ही कल्याण का मार्ग है।

(१३) कल्याण की जननी अन्य द्रव्य की उपासना नहीं केवल स्वात्मा की उपासना ही उसकी जन्म भूमि है।

(१४) कहीं (तीर्थयात्रादि करने) जाओ परन्तु कल्याण तो भीतरी मूर्च्छा की ग्रन्थि के भेदन से ही होगा और वह स्वय भेदन करनी पड़ेगी।

(१५) तत्त्वज्ञानपूर्वक रागद्वेष की निवृत्ति ही आत्मकल्याण का सहज साधन है।

(१६) अपने परिणामों के सुधार से ही सबका भला होगा।

(१७) परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी दृष्टि ही व्यग्रता का कारण है, उसे हटाओ। उसके हटाने से हर स्थान तीर्थक्षेत्र है, विश्व शिखरजी है और आत्मा में मोक्ष है।

(१८) संसार के सभी सम्प्रदायानुयायी संसार यातना का अन्त करने के लिये नाना युक्तियों, आगम गुरुपरम्परा तथा स्वानुभवों द्वारा उपाय दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जो हो हम और आप भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं, कुछ विचार से काम लेवें तब अन्त में यही निर्णय सुखकर प्रतीत होगा कि बन्धन से छूटनेका मार्ग हममें ही है परपदार्थों से केवल निजत्व हटाना है।

(१९) इच्छामात्र आकुलता की जननी है, अतः वह परमानन्द का दर्शन नहीं करा सकती।

(२०) कल्याण का मूल कारण मोहपरिणामों की सन्तति का अभाव है। अतः जहां तक बने इन रागादिक परिणामों के जाल से अपनी आत्मा को सुरक्षित रक्खो,

(२१) जगत की ओर जो दृष्टि है वह आत्मा की ओर कर दो, यही श्रेयोमार्ग है।

(२२) जग से ३६ छत्तीस (सर्वथा पराङ्मुख) और आत्मा से ६३ (सर्वथा अनुकूल) रहो, यही कल्याण कारक है।

(२३) मन वचन और काय के साथ जो कषाय की वृत्ति है वही अनर्थो की जड़ है।

(२४) सत्पथ के अनुकूल श्रद्धा ही मोक्षमार्ग की आदि जननी है।

(२५) कल्याण की प्राप्ति आतुरता से नहीं निराकुलता से होती है।

(२६) कल्याण का मार्ग अपने आपको छोड़ अन्यत्र नहीं। जब तक अन्यथा देखने की हमारी प्रकृति रहेगी, तबतक कल्याण का मार्ग मिलना अति दुर्लभ है।

(२७) राग द्वेष के कारणों से बचना कल्याण का सच्चा साधन है।

(२८) कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा ने अनादि काल से अपनी सेवा नहीं की केवल पर पदार्थों के संग्रह में ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अरहन्त का उपदेश है "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोड़ो"

(२९) अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण में बाधक और साधक कुछ भी नहीं हैं। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

(३०) कल्याण का मार्ग सन्मति में है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है।

(३१) कल्याण के अर्थ संसार की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बना कर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३२) अर्जित कर्मों को समता भाव से भोग लेना ही कल्याण के उदय में सहायक है।

(३३) निमित्त कारणों के ही ऊपर अपने कल्याण और अकल्याण के मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि को हीन करना है। बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्मपरिणति को देखो, उसे विकृति से संरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे।

(३४) कल्याण का मार्ग आत्मनिर्मलता में है, बाह्याडम्बर में नहीं। मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व सङ्गमर्मर की खानि में होता है मारवाड़ के बालुकापुञ्ज में नहीं।

(३५) पर की रक्षा करो परन्तु उस में अपने आपको न भूलो।

(३६) वही जीव कल्याण का पात्र होगा जो बुरे चिन्तन से दूर रहेगा।

(३७) यदि कल्याण की इच्छा है तो प्रमाद को त्याग कर आत्मस्वरूप का मनन करो।

(३८) कल्याण का मार्ग, चाहे वन में जाओ, चाहे घर में रहो, आप ही में निहित है। पर के जानने से कुछ भी कल्याण नहीं होता, अकल्याणका मूल कारण तो मूर्छा है। उसको त्यागने से सभी उपद्रव दूर हो जावेंगे। वह जब तक अपना स्थान आत्मा में बनाये है, आत्मा दुःखी हो रहा है। दुःख बाह्य पदार्थ से नहीं होता अपने अनात्मीय भावों से होता है।

(३९) कल्याणार्थियों को चाहिये कि जो भी काम करें उसमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करें अन्यथा संसार-बन्धन छूटना कठिन है।

(४०) अन्याय का धन और इन्द्रियविषय ये दो सुमार्ग के रोड़े हैं।

(४१) कल्याण का पथ निरीहवृत्ति है।

(४२) संसार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थी को श्रेयस्कर है।

(४३) कल्याण के अर्थ भीषण अटवी में जाने की आवश्यकता नहीं, मूर्छा का अभाव होना चाहिए।

(४४) मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो जीव आत्मकल्याण को चाहते हैं वे अवश्य उसके पात्र होते हैं।

(४५) अनादि मोह के वशीभूत होकर हमने निज को चीना ही नहीं, तब कल्याण किसका ? इस पर्याय में इतनी योग्यता

* सदाचार *

(१) अनुभवी वक्ताओं के भाषण तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का मूल सिद्धान्त एक मात्र सदाचारपूर्वक रहना सिखाता है।

(२) सदाचार के बिना सुख पाने का यत्न करना आकाश के पुष्पावचयन के सदृश है।

(३) जिस तरह मकान पक्का बनाने के लिये नीव का पक्का होना आवश्यक है, उसी तरह उज्वल भविष्य निर्माण के लिये (आदर्श जीवन के लिये) बालजीवन के सुसंस्कार सदाचारादि का सुदृढ़ होना आवश्यक है।

(४) सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। चाहे संस्कृत भाषा का विद्वान् हो, चाहे हिन्दी, अंग्रेजी या और किसी भाषा का विद्वान् हो, जो सदाचारी है वह सभ्य है, जो असदाचारी है वह असभ्य है। प्रत्युत बिना पढ़े लिखे भी जो सदाचारी हैं वे सभ्य हैं और बुद्धिमान भी यदि सदाचारी नहीं तो असभ्य हैं।

(५) सदाचार ही जीवन है। इसकी निरन्तर रक्षा करने का प्रयत्न करो।

❀ स्वाध्याय ❀

(१) स्वाध्याय संसार से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिए दावानल है, स्वानुभव समुद्र की वृद्धि के लिए पूर्णिमा का चन्द्र है, भव्य कमल विकसित करने के लिए भानु है और पाप उलूक को छिपाने के लिए प्रचण्ड मार्तण्ड है।

(२) स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अङ्ग है, शुक्ल ध्यान का हेतु है, भेदज्ञान के लिए रामबाण है, विषयों में अरुचि कराने के लिए मलेरिया सदृश है, आत्मगुणों का संग्रह करने के लिए राजा तुल्य है।

(३) सत्समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सत्समागम आस्रव का कारण है जब कि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होने का प्रथम उपाय है। सत्समागम में प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय में इसकी भी सम्भावना नहीं, अतः स्वाध्याय की समानता रखनेवाला अन्य कोई नहीं।

(४) स्वाध्याय की अवहेलना करने से ही हम दैन्यवृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भोजन हुए हैं।

(५) कल्याणके मार्गमें स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है।

(६) स्वाध्याय से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं।

(७) स्वाध्याय आत्म-शान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है।

(८) स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरङ्ग तप

है। जिनका उपयोग स्वाध्याय में लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं।

(९) आगमाभ्यास ही मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। वह होकर भी यदि अन्तरात्मा से विपरीताभिप्राय न गया तब वह आगमाभ्यास अन्धे के लिये दीपक की तरह व्यर्थ है।

(१०) शास्त्राध्ययन में उपयुक्त आत्मा कर्म-बन्धन से शीघ्र मुक्त होता है।

(११) सम्यग्ज्ञान का उदय उसी आत्मा के होता है जिसका आत्मा मिथ्यात्व कलङ्क कालिमा से निर्मुक्त हो जाता है। वह कालिमा उसी की दूर होती है जो अपने को तत्त्व भावनामय बनाने के लिये सदा स्वाध्याय करता है।

(१२) शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते हैं लेकिन सांसारिक व्याधियों की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है।

(१३) स्वाध्याय का मर्म जानकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। आकुलता मोक्षमार्ग में साधक नहीं, बाधक है। साधक तो निराकुलता है।

(१४) स्वाध्याय परम तप है।

(१५) मनुष्य को हितकारिणी शिक्षा आगम से मिल सकती है या उसके ज्ञाता किसी स्वाध्यायप्रेमी के सम्पर्क से मिल सकती है।

(१६) तात्त्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चले।

(१७) एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य नहीं। पदार्थ की कथा छोड़ो, एक गुण का अन्य गुण से और एक पर्याय का अन्य पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना जानते हुये भी पर के विभावों द्वारा की गई स्तुति निन्दा पर हर्ष विषाद करना सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

(१८) जो सिद्धान्तवेत्ता हैं वे अपथ पर नहीं जाते। सिद्धान्तवेत्ता वही कहलाते हैं जिन्हें स्वपर ज्ञान है। तथा वे ही सच्चे वीर और आत्मसेवी हैं।

(१९) शास्त्रज्ञान और बात है और भेदज्ञान और बात है। त्याग भेदज्ञान से भी भिन्न वस्तु है। उसके बिना पारमार्थिक लाभ होना कठिन है।

(२०) कल्याण के इच्छुक हो तो एक घंटा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

(२१) काल के अनुसार भले ही सब कारण विरुद्ध मिलें फिर भी स्वाध्यायप्रेमी तत्त्वज्ञानी के परिणामों में सदा शान्ति रहती है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से शान्त है, वह केवल कर्म कलङ्क द्वारा अशांत हो जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी जीव के अनंत संसार का कारण कर्म शान्त हो गया है वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर न तो किसी का कर्ता बनता है और न भोक्ता ही होता है, निरन्तर ज्ञानचेतना का जो फल है उसका पात्र रहता है। उपयोग उसका कहीं रहे परन्तु वासना इतनी निर्मल है कि अनन्त संसार का उच्छेद उसके हो ही जाता है। निरन्तर अपने को निर्मल रखिये, स्वाध्याय कीजिये, यही संसार बन्धन से मुक्ति का कारण है।

(२२) यदि वर्तमान में आप वीतरागता की अविनाभाविनी शान्ति चाहें तब असम्भव है, क्योंकि इस काल में परम वीतरागताकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। अतः जहाँ तक बने स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा कीजिए।

(२३) उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसी से इसका अन्तरङ्ग तप में समावेश किया गया है। तथा यह संवर और निर्जरा का भी कारण है। श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मातृका का ज्ञान अवश्य होता है। अवधि और मनःपर्यय से भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान इसके ही बल से होता है। अतः सब उपायों से इसकी वृद्धि करना यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

(२४) जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है इसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

(२५) अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा परपदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल में फंसा हुआ अपनी सुध में बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही दोष है। एक आगम ही शरण है यही आगम पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराके विभाव से आत्मा की रक्षा करने वाला है।

(२६) स्वाध्याय तप के अवसर में, जो प्रतिदिन का कार्य है, यह ध्यान नहीं रहता कि यह कार्य उत्तमतम है।

(२७) स्वाध्याय करते समय जितनी भी निर्मलता हो सके करनी चाहिये।

(२८) स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप नहीं। यह तप उन्हीं के हो सकता है जिनके कषायों का क्षयोपशम हो गया है। क्योंकि बन्धन का कारण कषाय है। कषाय का क्षयोपशम हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता, केवल ज्ञानार्जन हो सकता है।

(२९) स्वाध्याय का फल रागादिकों का उपशम है। यदि तीव्रोदय से उपशम न भी हो तब मन्दता तो अवश्य हो जाती है। मन्दता भी न हो तब विवेक अवश्य हो जाता है। यदि विवेक भी न हो तब तो स्वाध्याय करने वाले न जाने और कौन सा लाभ ले सकेंगे ? जो मनुष्य अपनी राग प्रवृत्ति को निरन्तर अवनत कर तात्विक सुधार करने का प्रयत्न करता है वही इस व्यवहार धर्म से लाभ उठा सकता है। जो केवल ऊपरी दृष्टि से शुभोपयोग में ही संतोष कर लेते हैं वे उस पारमार्थिक लाभ से वंचित रहते हैं।

(३०) सानन्द स्वाध्याय कीजिये, परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये।

(३१) आगम ज्ञान का इतना ही मुख्य फल है कि हमें वस्तुस्वरूप का परिचय हो जावे।

(३२) शास्त्र ज्ञान का यही अभिप्राय है कि अपने को पर से भिन्न समझा जावे। जब मनुष्य नाना प्रयत्नों में उलझ जाता है तब वह लक्ष्य से दूर हो जाता है वैसे तो उपाय अनेक हैं पर जिसमें रागद्वेष की शृंखला टूट जावे और आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा बना रहे, वह उपाय स्वाध्याय ही है। निरन्तर मूर्छा के बाह्य कारणों से अपने को रक्षित रखते हुए अपनी मनोभावना को पवित्र बनाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय जैसे प्रमुख साधन को अवलम्बन बनाओ।

(३३) शास्त्र स्वाध्याय से ज्ञान का विकास होता है और जिनके अभिप्राय विशुद्ध हैं उनके यथार्थ तत्त्वोंका बोध होता है।

(३४) इस काल में स्वाध्याय से ही कल्याण मार्ग की प्राप्ति सुलभ है।

(३५) स्वाध्याय को तपमें ग्रहण किया है अतः स्वाध्याय केवल ज्ञान का ही उत्पादक नहीं किन्तु चारित्र का भी अङ्ग है।

❀ ब्रह्मचर्य ❀

(१) ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ-"आत्मा में रमण करना है।" परन्तु आत्मा में आत्मा का रमण तभी हो सकता है जबकि चित्तवृत्ति विषय वासनाओं से निर्लिप्त हो, विषयाशा से रहित होकर एकाग्र हो। इस अवस्था का प्रधान साधक वीर्य का संरक्षण है अतः वीर्य का संरक्षण ही ब्रह्मचर्य है।

(२) आत्मशक्ति का नाम वीर्य है, इसे सत्व भी कहते हैं। जिस मनुष्य के शरीर में वीर्य शक्ति नहीं वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बल्कि लोक में उसे नपुंसक कहा जाता है।

(३ आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर में सप्त धातुएं होती हैं—१ रस २ रक्त, ३ मांस, ४ मेदा, ५ हड्डी, ६ मज्जा और ७ वीर्य। इनका उत्पत्तिक्रम रस से रक्त, रक्त से मांस मांस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है। इस उत्पत्ति क्रम से स्पष्ट है कि छटवीं मज्जा धातु से बनने वाली सातवीं शुद्ध धातु वीर्य है। अच्छा स्वस्थ मनुष्य जो आधा सेर भोजन प्रतिदिन अच्छी तरह हजम कर सकता है वह ८० दिन में ४० सेर याने एक मन अनाज खाने पर केवल एक तोला शुद्ध धातु वीर्य का सञ्चय कर सकता है!

इस हिसाबसे एक दिन का सञ्चय केवल १। सवा रत्ती से कुछ कम ही पड़ता है। इसलिए यह कहा जाता है कि हमारे शरीर में वीर्य शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, वही हमारे शरीर का राजा है। जिस तरह राजा के बिना राज्य में नाना प्रकार के अन्याय मार्गों का प्रसार होने से राज्य निरर्थक हो जाता है उसी तरह इस शरीर में इस वीर्य शक्ति के बिना शरीर निस्तेज हो जाता है, नाना प्रकार के रोगों का आराम गृह बन जाता है। अतः इस अमूल्य शक्ति के संरक्षण की ओर जिनका ध्यान नहीं वे न तो लौकिक कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं और न पारमार्थिक कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य संरक्षण के लिए न केवल विषय भोग का निरोध आवश्यक है अपितु तद्विषयक वासनाओं और साधन सामग्री का निरोध भी आवश्यक है। १ अपने राग के विषय भूत स्त्री पुरुष का स्मरण करना, २ उनके गुणों की प्रशंसा करना, ३ साथ में खेलना, विशेष अभिप्रायसे देखना, ५ लुक छिपकर एकान्त में वार्तालाप करना, ६ विषय सेवन का विचार और ७ तद्विषयक अध्यवसाय ब्रह्मचर्य के घातक होने से विषय सेवन के सदृश ही हैं। इसीलिये आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने का आदेश दिया है। यहां तक कि स्त्री समागम को ही संसार-वृद्धि का मूल करण कहा है क्योंकि स्त्री-समागम होते ही पांचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूप को निरंतर देखने की अभिलाषा बनी रहती है। वह निरंतर सुन्दर रूप वाली बनी रहे, इसके लिये अनेक प्रकार के उपटन, तेल आदि पदार्थों के संग्रह में व्यस्त रहना है। उसका शरीर पसेव आदि से दुर्गन्धित न हो जाय, अतः निरंतर चन्दन, तेल इत्र

आदि बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह कर उस पुतली की सम्हाल में संलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर लम्बायमान रहें अतः उनके लिए नाना प्रकार के गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलों का संग्रह करता है तथा उसके सरस कोमल, मधुर शब्दों का श्रवण कर अपने को धन्य मानता है और उसके द्वारा संपन्न नाना प्रकार के रसास्वाद को लेता हुआ फूला नहीं समाता है। उसके कोमल अंगों को स्पर्श कर आत्मीय ब्रह्मचर्य का और बाह्य में शरीर सौंदर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपने को धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्रीसमागम से ये मोही पंचेन्द्रियों के विषय में मकड़ी के जाल की तरह फँस जाते है। इसीलिए ब्रह्मचर्य को असिधारा व्रत, महान् धर्म और महान् तप कहा है।

(५) धर्म साधन का प्रधान साधन स्वस्थ शरीर कहा गया है इसलिए ही नहीं अपितु जीवन के संरक्षण और उसके आदर्श निर्माण के लिए भी जो १- शान्ति, २- कान्ति, ३-स्मृति, ४- ज्ञान ५- निरोगिता जैसे गुण आवश्यक है उनकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन नितान्तावश्यक है।

(६ यह कहते हुए लज्जा आती है हृदय दुःख से द्रवीभूत हो जाता है कि जिस अद्भुत वीर्य शक्ति के द्वारा हमारे पूर्वजों ने लौकिक और पारमार्थिक कार्य कर संसार के संरक्षण का भार उठाया था आजकल उस अमूल्य शक्ति का बहुत ही निर्विचार के साथ ध्वंस किया जा रहा है। आज से १००० वर्ष पहिले इसकी रक्षा का बहुत सुगम उपाय था-ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए बालक गण गुरुकुलों में वास कर विद्योपार्जन करते थे। आज की तरह उन दिनों चमक दमक प्रधान विद्यालय

न थे और न आज जैसा यह वातावरण ही था। उन्नति का जहां तक प्रश्न है प्रगतिशीलता साधक है परन्तु वह प्रगति शीलता खटकने वाली है जिससे राग की वृद्धि और आत्माका घात होता हो। माना कि आजकल के विद्यालयों में वैसे शिक्षक नहीं जिनके अवलोकन मात्र से शान्ति की उद्‍भूति हो! छात्रों पर वह पुत्रप्रेम नहीं जिसके कारण छात्रों में गुरु आदेश पर मिटने की भावना हो! और न छात्रों में वह गुरुभक्ति है जिसके नाम पर विद्यार्थी असंभव को संभव कर दिखाते थे। इसका कारण यही था कि पहले के गुरु छात्रों को अपना पुत्र ही समझते थे अपने पुत्र के उज्वल भविष्य निर्माण के लिये जिन संस्कारों और जिस शिक्षा की आवश्यकता समझते थे वही अपने शिष्यों के लिये भी करते थे। परन्तु अब तो पांसे उलटे ही पड़ने लगे हैं। अन्य बातों को जाने दीजिये शिक्षा में भी पक्षपात होने लगा। गुरु जी अपने सुपुत्रों को अंग्रेजी पढ़ाना हितकर समझते है तब (दूसरों के लड़कों) अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ाते हैं। भले ही संस्कृत आत्मकल्याण और उभय लोक में सुखकारी है परन्तु इस विषम वातावरण से उस आदर्श संस्कृत भाषा और उन अतीत के आदर्शों पर छात्रों की अश्रद्धा होती जाती है जिनसे वे अपने को योग्य बना सकते हैं आवश्यक यह है कि गुरु शिष्य पुनः अपने कर्तव्यों का पालन करें जिससे प्रगति शील युग में उन आदर्शों की भी प्रगति हो विद्यालयों के विशाल प्राङ्गणों में ब्रह्मचारी बालक खेलते कूदते नजर आवें और गुरु वर्ग उनके जीवन निर्माता और सच्चे शुभचिन्तक बनें।

(७) ब्रह्मचर्य साधन के लिए व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को पुष्ट और संगठित बनाना चाहिये। सादा

भोजन और व्यायाम से शरीर ऐसा पुष्ट होता है कि वृद्धावस्था तक सुदृढ़ बना रहता है। जो भोजन हम करते हैं उसे जठराग्नि पचाती है फिर उसका धातु उत्पत्ति क्रमानुसार रसादि परम्परा से वीर्य बनता है। इस तरह वीर्य और जठराग्नि में परस्पर सम्बन्ध है—एक दूसरे के सहायक हैं। इन्हीं के आधीन शरीर की रक्षा है, इनकी स्वस्थता में शरीर की स्वस्थता है। प्राचीन समय में इसी अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल से मनुष्य बद्धवीर्य उर्ध्वरेता कहे जाते थे।

(८) जिस शक्ति का छात्रवृन्द अहर्निश अध्ययन कार्य में लाते है वह मेधाशक्ति भी इसी शक्ति के प्रसाद से बलवती रहती है, इसी के बल से अभ्यास अच्छा होता है, इसी के बल से स्मरण शक्ति अद्भुत बनी रहती है। स्वामी अकलङ्कदेव, स्वामी विद्यानन्दि, महाकवि तुलसीदास, भक्त सूरदास और पण्डित प्रवर टोडरमल की जो बिलक्षण प्रतिभा थी वह इसी शक्ति का वरदान था।

(९) आजकल माता पिता का ध्यान सन्तान के सुसंस्कारों की रक्षा की ओर नहीं है। धनाढ्य से धनाढ्य भी व्यक्ति अपने बच्चों को जितना अन्य आभूषणों से सज्जित एवं अन्य वस्तुओं से सम्पन्न देखने की इच्छा रखते है उतना सदाचारादि जैसे गुणों से विभूषित और शील जैसी सम्पत्ति से सम्पन्न देखने की इच्छा नहीं रखते। प्रत्युत उसके विरुद्ध ही शिक्षा दिलाते है जिससे कि सुकुमार-मति बालक को सुसंगति की अपेक्षा कुसङ्गति का प्रश्रय मिलता है फलस्वरूप वे दुराचरण के जाल में फँस कर नाना प्रकार की कुत्सित चेष्टाओं द्वारा शरीर की संरक्षण शक्ति का ध्वंस कर देते हैं। दुराचार से हमारा तात्पर्य

केवल असदाचरण से नहीं है किन्तु १-आत्मा को विकृत करने वाले नाटकों का देखना, २-कुत्सित गाने सुनना, शृङ्गार वर्द्धक उपन्यास पढ़ना, ४-बाल विवाह, छोटे छोटे वर कन्या का विवाह) ५- वृद्ध विवाह और ७- अनमेल विवाह (वर छोटी कन्या बड़ी, या कन्या छोटी वर बड़ा) जैसे सामाजिक और वैयक्तिक पतन के कारणों से भी है।

मेरी समझ में इन घृणित दुराचारों को रोकने का सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि माता पिता अपने बच्चों को सबसे पहिले सदाचार के संस्कार से ही विभूषित करने की प्रतिज्ञा करें। सदाचार एक ऐसा आभूषण है जो न कभी मैला हो सकता है न कभी खो सकता है, व्यक्ति के साथ छाया की तरह सदा साथ रहता है। बालक ही वे युवक होते हैं जो एक दिन पिता का भार ग्रहण कर कुटुम्ब में धर्म परम्परा चलाते हैं, बालक ही वे नेता होते है जो समाज का नेतृत्व कर उसे नवीन जीवन और जागृति प्रदान करते हैं, यहां तक कि बालक ही वे महर्षि होते हैं जो जनता को कल्याण पथका प्रदर्शन कर शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त कराने में सहायक बनते है।

(१०) गृहस्थों के संयम में सब से पहिले इन्द्रिय संयम को कहा है। उसका कारण यही है कि यह इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि वे आत्मा को हठात् विषय की ओर ले जाती है, मनुष्य के ज्ञानादि गुणों को तिरोहित कर देती हैं, स्वीय विषय के साधन निमित्त मन को सहकारी बनाती है, मन को स्वामी के बदले दास बना लेती है! इन्द्रियों की यह सबलता आत्म-कल्याण में बाधक है। अतः इनका निग्रह अत्यावश्यक है।

उपाय यह है कि सर्व प्रथम इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही उस ओर न होने दो परन्तु यदि जब कोई इन्द्रिय का सम्मिधान हो रहा है, कोई प्रतिबन्धक कारण विषय-निबारक नहीं है, और आप उसके ग्रहण करने के लिए तत्पर हो गये हैं, तो उसी समय आपका कार्य है कि इन्द्रिय को विषय से हटाओ उसे यह निश्चय करा दो कि तेरी अपेक्षा मैं ही बलशाली हूं, तुझे विषय ग्रहण न करने दूंगा। जहां दस पांच अवसरों पर आप ने इस तरह विजय पाली अपने आप इन्द्रियां आपके मन के अधीन हो जावेंगी। जिस विषय सेवन करने से आपका उद्देश्य काम तृप्त करने का था वह दूर होकर शरीर रक्षा की ओर आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। उस समय आपकी यह दृढ़ भावना होगी कि मेरा स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यवाला है। केवल इन कर्मों ने इस प्रकार जकड़ रक्खा है कि मैं निज परिणति को परित्याग कर इन विषयों द्वारा तृप्ति चाहता हूं। यह विषय कदापि तृप्ति करने वाले नहीं। देखने में तो किंपाक सदृश मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु परिपाक में अत्यन्त विरस और दुःख देने वाले हैं। मैं व्यर्थ ही इनके वश होकर नाना दुःखोंकी खानिहो रहा हूँ। इस तरह की भावनाओं से जीवन में एक नवीन स्फूर्ति और शुभ भावनाओं का सञ्चार होता है, विषयों की ओर से विरक्ति होकर सुपथ की ओर प्रवृत्ति होती है।

(११) जिन उत्तम कुल-शील-धारक प्राणियों ने गृहस्थावस्था में उदासी-वृत्ति अवलम्बन कर विषय सेवन किए वे ही महानुभाव उस उदासीनता के बल से इस परम पद के अधिकारी हुए। श्री भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहर्त में ही अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी ने संवरण किया वह महनीय पद प्राप्ति इसी

भावना का फल है। ऐसे निर्मल पुरुष जो विषय को केवल रोगवत् जान उपचार से औषधिवत् सेवन करते हैं उन्हें यह विषयाशा नागिन कभी नहीं डंस सकती।

(१२) संसार में जो व्यक्ति काम जैसे शत्रु पर विजय पालेते हैं वही शूर हैं। उन्हीं की शुभ भावनाओं के उदयाचल पर उस दिव्य ज्योति तीर्थंकर सूर्य का उदय होता है जिसके उदय होते ही अनादिकालीन मिथ्यान्धकार ध्वंस हो जाता है।

(१३) ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जिसके पालने से सम्पूर्ण व्रतों का समावेश उसी में हो जाता है तथा सभी प्रकार के पापों का त्याग भी उसी व्रत के पालने से हो जाता है। विचार कर देखिये जब स्त्री सम्बन्धी राग घट जाता है तब अन्य परिग्रहोंसे सहज ही अनुराग घट जाता है क्योंकि वास्तव में स्त्री ही घर है, घास-फूस, मिट्टी चूना आदि का बना हुआ घर घर नहीं कहलाता। अतः इसके अनुराग घटाने से शरीर के शृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते हैं। माता पिता आदि से स्नेह स्वयं छूट जाता है। द्रव्यादि की ही ममता भी स्वयमेव छूट जाती है जिसके कारण गृहबन्धन से छूटने में असमर्थ भी स्वयमेव विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

(१४) ब्रह्मचर्य साधक व्यवस्था में मुख्यतया इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) प्रातः ४ बजे उठकर धार्मिक स्तोत्रका पाठ और भगवन्नामस्मरण करने के अनन्तर ही अन्य पुस्तकों का अध्ययन पर्यटन या गृहकार्य किया जाय।

(२) सूर्य निकलने के पहिले ही शौचादि से निवृत्त होकर खुले मैदान में अपनी शारीरिक शक्ति और समयानुसार डंड, बैठक, आसन, प्राणायाम आदि आवश्यक व्यायाम करें।

(३) व्यायाम के अनन्तर एक घण्टा विश्रान्ति के उपरान्त ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम जल से अच्छी तर- स्नान करें। स्नान के अनन्तर एक घण्टा देव पूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य कर दस बजे के पहिले तक का जो समय शेष रहे उसे अध्ययन आदि कार्यों में लगावें।

(४) दस बजे निर्द्वन्द्व होकर शान्तचित्त से भोजन करें। भोजन सादा और सात्विक हो। लाल मिर्च आदि उत्तेजक, रबड़ी मलाई आदि गरिष्ठ एवं अन्य किसी भी तरह के चटपटे पदार्थ न हों।

(५) भोजन के बाद आधे घण्टे तक या तो खुली हवा में पर्यटन करें या पत्रावलोकन आदि ऐसा मानसिक परिश्रम करें जिसका भार मस्तिष्क पर न पड़े। बाद में अपने अध्यय-नादि कार्य में प्रवृत्त हो।

(६) सायंकाल चार बजे अन्य कार्यों से स्वतन्त्र होकर शौचादि दैनिक क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् ऋतु के अनु-सार पाँच या साढ़े पांच बजे तक सूर्यास्त के पहिले पहिले भोजन करें।

(७) भोजन के पश्चात् एक घण्टे खुली हवा में पर्यटन करें तदनन्तर दस बजे तक अध्ययनादि कार्य करें।

(८) दस बजे सोने के पूर्व ठण्डे जल से घुटनों तक पैर

और ऋतु अनुकूल हो तो शिर भी धोकर स्तोत्र पाठ या भगवन्नामस्मरण करके शयन करें।

(९) सदा अपने कार्य से कार्य रखें व्यर्थ विवाद में न पड़ें।

(१०) अपने समय का एक एक क्षण अमूल्य समझ उसका सदुपयोग करें।

(११) मनोवृत्ति दूषक साहित्य, नाटक, सिनेमा आदि से दूर रहें।

(१२) दूसरों की मां बहिनों को अपनी मां बहिन समझें।

(१३) "सत्संगति और विनय जीवन की सफलता का अमोघ मन्त्र है" इसे कभी न भूलें।

[पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रशाद जी वर्णी
के प्रवचनों से]

[वाणीभूषण ब्रह्मचारी पं० भूरामलजी शास्त्री द्वारा रचित]

❋ मानव धर्म ❋

सत्यमार्ग देशक हुये महावीर भगवान।
सभ्य पुरुष उनका सदा करते हैं सन्मान॥

यह संसार एक भयङ्कर अटवी के समान है। इसमें यह शरीर-धारी प्राणी दिग्भ्रम में पड़कर इधर से उधर चक्कर लगाता है जिसे अपने अभीष्ट मार्ग का मिलना बड़ा दुःसाध्य हो रहा है। जिन्होंने अपने दिव्यज्ञान से उस सन्मार्ग को पालिया, उस पर खुद चलकर बिल्कुल निर्भय निराकुल बन गये एवं औरों को भी उस पर चलने का आदेश दिया, ऐसे महापुरुषों का नाम ही महावीर है। उन्हें आदर्श मानकर उनके नाम का स्मरण करना, उन्हें आदर देना हर एक सभ्य पुरुष का काम हो जाता है अतः अपने ग्रन्थ के आदि में स्वामी समन्तभद्र ने उन्हें नमस्कार किया है—

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते॥१॥

श्री नाम लक्ष्मी का है। जो प्राणी मात्र को सुख देने वाली हो उसे लक्ष्मी कहते हैं। सर्व साधारण लोग

रुपया पैसा, हीरा पन्ना, मोती जवाहरात वगैरा को लक्ष्मी समझते हैं जो कि वास्तव में कङ्कर पत्थर हैं। वस्तुतः एक झाम्झड़े पत्थर में और हीरे में क्या फरक है एक में चमक नहीं है लेकिन दूसरे में थोड़ी चमक दमक है जिसकी चमक के ऊपर रीझकर लोग उससे प्रेम करने लगे, गले से लगाने लगे। एक को देखकर दूसरा भी ऐसा ही करने लगा, बस उसकी कीमत होगई तो तिजोरियों में बन्द करके रक्खा जाने लगा, उसके चुराये जाने का भय खड़ा होगया, ताला लगाकर लोगों ने उसके आगे सोना शुरू कर दिया देखें कोई कैसे ले जाता है। अब जिसे आराम की चीज समझा गया था वही जान की जोखम बन गया, यह सेठ साहूकारों का हाल है। परन्तु एक भील जिसके कि ख्याल में हीरे की कोई कीमत नहीं है वह घुघुचियों को बड़े चाव से अपनाता है, उन्हीं का हार बनाकर पहनता है तो कहो किसे लक्ष्मी समझा जाय? जो जिसको जानता है वह उसकी कदर करता है। हम लोग लोहे की कदर न करके उसे सड़क पर डाल देते हैं और चाँदी को तिजोरियों में बन्द करते हैं, किन्तु एक बहादुर आदमी अपने लोहे के खड्ग को बड़ी होशियारी से रखता है एवं समय की कदर करने वाला

आदमी छोटी सी हाथ घड़ी के डेढ़सौ दोसौ रुपया देकर भी उसे खरीदना चाहता है।

एक समय एक लकड़हारे को लकड़ियाँ बीनते बीनते एक चिन्तामणि रत्न दीख पड़ा उसे देखकर उसने विचार किया कि यह पत्थर गोल गोल बड़ा सुहावना और चमकीला है इसे ले चलूँ मेरा बच्चा खेला करेगा। वह लाकर बच्चे को खेलने के लिये दे देता है। उसे क्या पता कि यह चिन्तामणि है इससे तेरा सारा दारिद्रय दूर हो सकता है। सायंकाल को जब बिना दीपक जलाये ही उजाला हो जाता है तब तो उसे और भी खुशी होती है वह सोचता है कि एक अधेले रोज का जो तेल जलता था उसका भी फायदा हो गया। खुशी के मारे फूल गया अपितु इसमें और भी कुछ करामात है इसका उसे पता नहीं है इसलिये पहले की तरह से लकड़ियाँ लाता है और काम चलाता है, अस्तु। एक रोज उसके घर की तरफ होकर एक जौहरी महाशय निकलते हैं वे देखते हैं कि इसके घर पर चिन्तामणि है और उसे कहते हैं कि भाई! तुम लकड़ियां क्यों बीनते हो तुम्हारे घर पर तो जो यह चमकीली गुलिया है उसमें ऐसी करामात है जो तुम

मांगो वही देगा। इतनासा इशारा जौहरी का होते ही उसने उससे खीर का भोजन मांगा, तैयार हो गया, ओढ़ने के लिये शाल की याचना की तो चट मिल गया, रहने के लिये कमरा बनने को कहा, बन गया, अब तो मालामाल हो गया। कहो लक्ष्मी किसका नाम हुआ? ज्ञान का ही तो नाम लक्ष्मी हुआ। चिन्तामणि होते हुये भी जब तक उसे मालूम नहीं तो कुछ भी नहीं किन्तु मालूम होते ही ठाठ हो गया। वास्तव में ज्ञान में ही आनन्द है वह ज्ञान थोड़ा या बहुत किसी न किसी रूप में हर एक प्राणी के पास होता है किन्तु परम प्रकर्ष अवस्था को प्राप्त परिपूर्ण ज्ञान जिन महापुरुषों के पास हो उसे श्री वर्द्धमान समझना चाहिये और इसीलिये वह इतर प्राणियों का आदर्श बनकर उपास्य बन जाता है जिसका कि दूसरा नाम महावीर है जो कि अपना कल्याण करने के साथ साथ विश्व भर के कल्याण में सहकारी हो जाता है जैसा कि लिखा हुआ है—

ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष-प्रभवानंदनंदितं ।
प्रणमामि महावीरं लोकत्रितयमङ्गलम् ॥

कलह के साधन या आधार को कलिल कहते हैं।

अपनी आवश्यकता की पूर्ति में पड़कर वह मनुष्य अन्य प्राणियों के लिये कलह का मूल बन जाया करता है। अपनी आवश्यकताओं को धीरे २ कम करके परोपकार में तल्लीन होकर जनप्रिय बनना ही सभ्य पुरुष का कार्य है। एवं तु जिसने अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से तिलाञ्जलि देकर विश्व हित का मार्ग अपना लिया वह निधू त-कलिलात्म कहलाता है और वही पूर्ण ज्ञानी बन सकता है। क्योंकि स्वार्थ वृत्ति ही ज्ञान के लिये बाधक है। स्वार्थ को छोड़कर परमार्थ पर दृढ़ता से चलने वाले का ज्ञान दर्पण के समान बिल्कुल निर्मल होकर लोकालोक का प्रकाशक बन जाता है और उसे ही श्री वर्द्धमान कहते हैं।

इस प्रकार आदर्श को सामने रखकर मनुष्यमात्र के करने योग्य चार पुरुषार्थों में से सर्व प्रधान धर्म पुरुषार्थ का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की जा रही है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणं।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

धरतीति धर्मः जिसको लेकर वस्तु का वस्तुत्व कायम रहे उसे धर्म कहना चाहिये परन्तु यहां जीवात्मा का प्रसङ्ग होने से उसे यों पलट कर कहने की जरूरत है

कि प्राणियों की चेष्टा का नाम धर्म है और विशेष विवक्षा में शीर्षे शीर्षेमतिर्भिन्ना इस कहावत के अनुसार प्रति प्राणिकी बुद्धि भिन्न २ प्रकार की है फिर भी साधारण तौर पर उसके तीन भेद किये जा सकते हैं एक तो वह चेष्टा जो कि अपने आप को भी संक्लेशित करने वाली होकर औरों के लिये भी बाधक होवे; जैसे मांस खाना इत्यादि, इसी को कुधर्म या पाप भी कहते हैं। दूसरी वह चेष्टा है जो कि एक के लिए रुचिकर होकर भी दूसरे को रुचिकर न हो, जैसे पगडी बांधना मारवाड़ी के लिए अभीष्ट है किन्तु यू० पी० वाले को वह ठीक नहीं लगती वह टोपी लगाना पसन्द करता है जो कि मारवाड़ी को नहीं रुचती इत्यादि ऐसी चेष्टा को अधर्म शब्द से कहना चाहिये। तीसरी चेष्टा वह है जो संसार अर्थात् संक्लेश को दूर करके प्राणी मात्र को सुख शान्ति की देने वाली हो ऐसी चेष्टा का नाम ही सद्धर्म है। कुधर्म और अधर्म में भेद हो सकता है परन्तु धर्म प्राणी मात्र का एक है उस में भेद के लिए गुञ्जाइश नहीं है। जैसे झूठ कई तरह से बोला जा सकता है किन्तु सत्य एक ही होगा क्योंकि वह वस्तु स्थिति से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार धर्म है और वह है "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् जो अपने आप को बुरा मालूम हो वह बर्ताव

किसी दूसरे के लिये कभी मत करो फिर भी पालन करने वालों ने उसे कई प्रकार से धारण किया। जैसे ईख के चूसने वालों में कोई उसे नीचे से चूसना शुरु करते हैं तो कोई ऊपर से, कोई गण्डेरी बनाकर चूसता है तो कोई उसका रस निकाल कर पीता है इत्यादि। इतना ही नहीं बल्कि कितने ही तो कुधर्म और अधर्म को भी धर्म मान बैठे और अपनी२ हट में पड़कर एक दूसरे से स्पर्द्धा करने लगे। जो धर्म सुख और शान्ति का मार्ग था वह झगड़े का जड़ बन गया। हमारे बुजुर्गों ने झगड़े के तीन कारण बतलाए हैं जर, जमीन और जोरू एवं ऐसा ही हमें इतिहास में देखने से मालूम होता है। परन्तु आज हम देखते हैं तो जितने कुछ झगड़े उन तीन के लिये होते हैं उनसे कहीं बहुत अधिक एक धर्म के ही नाम पर होते हुए दीख पड़ते हैं बल्कि एक धर्म और एक सम्प्रदाय वालों में भी नित नये झगड़े देखने को मिलते हैं। अतः आज कितने ही सभ्य कहलाने वाले तो धर्म के नाम से ही घृणा करने लग गये। परन्तु क्या धर्म वास्तव में घृणा की वस्तु है? कभी नहीं। फिर ऐसा क्यों हुआ? बात ऐसी हुई कि भोली जनता ने जिनके हाथ में धर्म की बागडोर, सौंपी जिनको अपना विश्वास पात्र बनाया उन्होंने अज्ञान और प्रमाद या स्वार्थ में पड़कर धर्म के

स्वरूप को विकृत बना दिया उसे उचित या अनुचित अनेक तरह की ऊपरी पोसाक पहना करके ढकोसला बना दिया। जो धर्म वस्तुतः आत्मा के अन्तरङ्ग की देन थी उसे ऊपरी क्रियाकाण्डों से जकड़ दिया।

हमें यह अच्छी तरह समझलेना चाहिये कि धर्म तो कर्मनिवर्हण है, बाह्य क्रिया काण्ड का प्रतिषेधक है, उस का सम्बन्ध तो आत्मा की चित्तवृत्ति से है जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि मनः पूतं समाचरेत् अर्थात् जब कोई चोरी करना चाहता है तो उसका दिल धक२ करने लगता है वह कहता है कि ऐसा करना बुरा है। इसी प्रकार जब कोई किसी को मारना चाहता है या गुस्सा करता है तो कांपने लगता है उसका मन कहता है कि ऐसा करना ठीक नहीं। मतलब यह है कि किसी को कष्ट देना या कष्ट देने का विचार करना बुरी बात है एवं इसके विपरीत हरएक को आराम मिले ऐसा विचार करना और उसको यथा साध्य सहायता करना अच्छी बात है इसीको अहिंसा कहते हैं और यही प्राणीमात्र का धर्म है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

एक शरीरको छोड़ना और अन्यको ग्रहण करना यह

इस जीवात्मा का चिरअभ्यास है इसके लिये यह दुनिया एक नाटक घर के समान है जिस प्रकार नाटक घर में खेलने वाला आदमी कभी राजा का तो कभी रंक का इस तरह नाना स्वांग धारण करता है जिससे देखने वालों को रिझाना चाहता है यह उसका काम है परन्तु वह अगर उन स्वांगों को अपना स्वरूप ही मान बैठे तो उसकी भूल है। उसी प्रकार इस दुनिया में यह जीवात्मा भी नाना शरीर धारण करता है कभी देव का तो कभी नारकी का, कभी पशु का तो कभी मनुष्यका, कभी स्त्री का तो कभी पुरुष का जैसा शरीर धारण करता है उसी को अपना स्वरूप समझ तन्मय हो रहा है। इसके दुबले होने में अपने आपको दुबला और ताजा होने में अपने को ताजा एवं इसी के सम्बन्धी स्त्री पुत्रादि को अपने स्त्री पुत्रादि समझता है, उन्हीं के लाड़ चाव में अपनी चतुरता दिखलाता है और उन्हीं को खुश रखने के लिए अनेक तरह की चेष्टायें करता है। इस चक्कर में अपने सच्चिदानन्द अखण्ड अविनाशी स्वरूप को भूले हुए है। मानलो एक सिंह का बच्चा जिसकी कि मां उसके जन्म लेते ही मर चुकी थी वह स्यालनी का दूध पी पी कर उसके बच्चों के साथ में बढ़ने लगा, बहुत दिन हो गये उन्हीं को अपनी माता और भाई समझने लगा। अब एक

दिन एक सिंह आया और उन स्यालों को खाने के लिये लपका, स्याल डरकर भगे तो वह सिंह का बच्चा भी भगने लगा। आगन्तुक सिंह बड़ा आश्चर्य में पड़ा और उस सिंह के बच्चे से कहने लगा कि भाई ये स्याल भागते हैं सो तो ठीक किन्तु तुम भी क्यों भागे जाते हो तुम तो मेरे ही भाई हो, तुम में तो मेरे सरीखी ही शक्ति है तुम्हें डरने की क्या जरूरत है, इत्यादि। किन्तु उसके समझ में नहीं आया वह कहने लगा कि तुम हमको धोका देना चाहते हो, मैं इनसे भिन्न थोड़ ही हूं इन्हीं का भाई तो हूं, सदा इन्हीं के साथ रहता आया हूं।

आगन्तुक सिंह ने कहा अगर ऐसा है तो तुम सभी ठहरो मैं तुममें से इस समय किसी को नहीं खाऊंगा यों कहकर उन्हें विश्वास दिलाकर एक निस्तब्ध जल वाली तलैया के तीर पर लेगया और किनारे पर जाकर सब कतारबन्द खड़े हो गये तब उस आगन्तुक सिंह ने उस सिंह के बच्चे से कहा कि देखो तो सही तुम अपनी परछाईं को जो इन तेरे साथियों सरीखी है या मुझ सरीखी। सिंह के बच्च ने देखा तो जिस प्रकार उस सिंह के बच्चे के कन्धे पर केसर हैं उसके कन्धे पर भी हैं सिंह के शरीर में चकत्ते हैं वैसे उसके शरीर पर भी हैं

जो कि उन श्यालों के शरीर पर नहीं हैं तब तो उसे विचार होने लगा कि हां इन सिंह देवता का कहना सत्य प्रतीत होता है किन्तु इसमें क्या रहस्य है सो देखना चाहिये। अपनी अम्बा स्यालिनी के पास गया और बोला माँ इन मेरे भाइयों की शक्ल में और मेरी शक्ल में भेद क्यों है? दयाकर ठीक ठीक बता। मां ने कहा बेटे तू वास्तव में मेरा बेटा नहीं है किन्तु सिंहनी का है। तेरे जन्मते ही तेरी मां मरगई अतः तू मेरा दूध पीकर इन मेरे बच्चों के साथ ही रहने लगा ऐसी बात है। बस फिर क्या था अब वह सत्य पर पहुंच गया उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि तू सिंह है। इन स्यालों से भिन्न है तेरे में स्यालों की तो बात ही क्या हाथियों को भी चीर फाड़कर भगाने की ताकत है २ एवं वह सिंह की भांति कूदने और बड़े२ हाथियों पर भी आक्रमण करने लगा। इसी प्रकार यह संसारी आत्मा शरीर के साथ में तन्मय होकर अनादिकाल से इस दुनियाँ में चक्कर काट रहा है और गीदड़ सरीखा डरपोक बन रहा है। आत्म तत्ववेत्ता महानुभाव परमर्षि लोग इसे कहते भी हैं तो समझ में नहीं आता। हां, काललब्धिरूप तलैया पर पहुंच कर सूक्ति माता द्वारा मालूम करने पर एकाएक इसके अंतरङ्ग में प्रकाश होता है कि अहो मैं तो वास्तव में

सच्चिदानन्द हूँ, ज्ञान का पुञ्ज अजर अमर अविनाशी हूं। इस शरीर से बिल्कुल भिन्न हूं। यह शरीर तो जड़ है मेरे से विपरीत स्वभाव वाला है इसके साथ मेरा कैसा नाता तथा स्त्री पुत्रादि भी जो कि भिन्न दीखते ही हैं इनका अगर कोई सम्बन्ध है तो इस शरीर से भले हो मेरी आत्मा से क्या सम्बन्ध ? मैं व्यर्थ ही इनको अपना कर इनके लिये अनेक प्रकार के पापोपार्जन कर रहा हूं। देखो मै खुदगर्जी में पड़कर दुनियाँ के इतर प्राणियों के लिये आजतक किस प्रकार कण्टक बना रहा। हन्त ! अफ़सोस २ ऐसा सोचकर सहज ही उसकी चेष्टा ऐसी हो जाती है जो दुनियां के किसी भी प्राणी के लिये बाधक न होकर अपने आप का अपूर्व शक्ति की देने वाली होती है। इसी का नाम अहिंसा है और यही वास्तविक धर्म है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृतां।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयं ॥४॥

किसी भी अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिये सर्व-साधारण को तीन बातों की जरूरत होती है एक तो मार्गप्रकाशक दूसरा मार्गव्यवस्थापक और तीसरा सबके आगे होकर चलने वाला। इनको पुरानी भाषा में आप्त, आगम और गुरु या तपस्वी कहते हैं। जैसे रात में अंधेरे

के कारण रास्ता नहीं दीख पाता परन्तु सवेरा होते ही सूर्य नारायण सब सड़कों पर उजाला कर देता है रास्ता साफ दीखने लगता है फिर भी यह मालूम नहीं पड़ता कि कौनसी सड़क कहां को जाती है ? इसके लिये बड़े शहरों में प्रायः हरएक सड़क पर साइनबोर्ड लगा रहता है उसको देखकर हम लोग जान सकते हैं यह सड़क कहां को जाती है। फिरभी हर कोई सहसा उसपर चलने के लिये समर्थ नहीं होता, उसे भय होता है कि कहीं इस सड़क पर चोर डाकू वगैरा का तो डर नहीं है। अतः एक ऐसे आदमी की जरूरत हो जाती है जो निडर होकर आगे चले। बस ऐसे ही इस प्राणी को संसार कान्तार से निकलकर सुख स्थान पर पहुंचने के लिये आप्त, आगम और गुरु की जरूरत होती है जिनके कि ऊपर विश्वास करके वह अपना अभीष्ट सिद्ध कर सके। दुनिया में विश्वास एक बड़ी चीज है। इसके बिना कोई भी काम नहीं चल सकता। जब हम किसी भी रोग की निवृत्ति करना चाहें तो आयुर्वेद पर विश्वास करना पड़ेगा, भविष्य ज्ञान वगैरह के लिये ज्योतिष शास्त्र पर भरोसा करने से काम चलेगा। परन्तु यहां एक सोच लेने की जरूरत है और वह यह कि आँख मीचकर हरेक का विश्वास कर लेने पर धोका होने

की सम्भावना है क्योंकि इस भूतल पर जहाँ सच्चे आदमी हैं वहीं झूठे भी निवास करते हैं, हीरा जवाहरात की साथ साथ इमीटेसन भी होते हैं सच्चे मोतियों की भांति कलचर मोती भी देखे जाते हैं। अतः कुछ अपनी होशियारी से भी काम लेना चाहिये। देखादेखी करना, शास्त्र नाम सुनकर ही उसे मान बैठना, एवं उपदेशक मात्र पर विश्वास कर लेना ये तीन ठीक नहीं। हम लोग जब दो पैसे की हंडिया भी लेते हैं तो ठोक बजाकर ठीक प्रतीत होती है उसे ही लेते हैं फिर भला जिन पर हमारे उत्तर लोक का उत्तरदायित्व है उनके बारे में हम बिल्कुल बेखबर बने रहें ऐसा ठीक नहीं। जहां तक कि हमारी बुद्धि काम करे सोच समझ कर जिनके विरुद्ध कोई ठोस सबूत न मिले ऐसे सच्चे आप्त आगम और गुरु का ही भरोसा करना ठीक है। अस्तु। एक सत्यपथ के पथिक को चाहिये कि वह सामने में दृष्टि-पात करते हुये निःशङ्क होकर आगे की ओर बढ़ता चला जावे अन्यथा वह अपने स्थान पर पहुंच नहीं सकता रास्ते में आने वाले इधर उधर के पदार्थों में लालायित होकर उनकी तरफ निगाह न डाले ताकि ठोकर खाकर गिर पड़े और अपने साथियों से पीछे रह जावे (२) साथ में अगर कोई बूढ़ा बडेरा अपाहिज हो तो उस पर उपेक्षा

न कर यथा साध्य साथ लेकर चले (३) रास्ते में आये हुये कण्टक वगैरह से बचते हुये चले बिल्कुल लापरवाह होकर न चले (४) साथ में चलने वाले लोगों में से अगर किसी में किसी प्रकार का दोष हो मान लो कोई गुस्सेबाज है तो एकाएक उससे चिढ़ जाना ठीक नहीं। उसके उस दोष की तरफ निगाह न कर यथा सम्भव साथ रखने की कोशिश करे (५) साथ में चलते २ अगर कोई थक गया हो तो उसे सहारा देना या डोली वगैरह पर बिठाकर ले चलना चाहिये (६) अपने साथियों पर प्रेम का वर्ताव करना सबसे हिलमिल कर चलना ताकि कोई रूठकर संघ में भङ्ग न करे (७) एवं अपने आपको इस तरह का बनाकर चले ताकि दूसरे लोग भी उसको साथ में चलने को लालायित हो उठे। ये ऊपर लिखी बातें जभी हो सकती हैं जबकि सहिष्णुता हो अपने आपको बड़ा न समझ कर दूसरों की कीमत करना जानता हो अतः इस बात पर लक्ष्य रखना सबसे पहिला काम हो जाता है ताकि साथ बना, रहे एक लम्बे पथ के पथिक को इसे याद रखना चाहिये, अस्तु। अब सच्चे आप्त की क्या पहिचान है उसमें किन किन बातों की जरूरत होती है ? वही बता रहे हैं—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

सबसे पहले तो किसी भी बात का ठीक ठीक खयाल करने के लिये उसकी जानकारी की जरूरत है जबकि हम उसको जानते ही नहीं तो उसका क्या वर्णन करेंगे और दूसरों को क्या बता सकेंगे । जानकारी होकर भी अगर पक्षपात है तो सही हाल नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे प्रेम होगा तब तो हम उसकी तारीफ का पुल बांध देंगे, भले ही उसमें कोई भी गुण न हो । और अगर हमें उससे द्वेष है जिसका कि हम वर्णन कर रहे हैं तो द्वेष की वजह से हमें उचित गुण भी दुर्गुण-रूप से प्रतीत होने लगेंगे फिर हमसे उसकी निन्दा ही निन्दा होगी । एतावता किसी बात को बताते समय पक्षपात का चश्मा दूर होना चाहिये ताकि हमारी जानकारी अपना ठीक काम कर सके । इसके साथ हमारे बोलने का ढङ्ग भी ठीक होना चाहिये अर्थात् वह ऐसा भ्रामक न हो कि हम कहें कुछ और किन्तु सुनने वाला उसका और ही मतलब करले । ये उपर्युक्त तीनों गुण आप्त में अवश्य होने ही चाहिये । इन तीनों में से अगर एक भी न हुआ तो वह आप्त कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता ।

अब यहाँ शङ्का यह उपस्थित होती है कि वीतराग-वत्सरागाणामपि चेष्टमानत्वात् अर्थात् जब रागीद्वेषी छद्मस्थ लोगों की चेष्टायें भी करीब करीब वीतराग सरीखी होती हैं ऐसी हालत में सर्वसाधारण इस बात की जाँच कैसे कर सकते हैं कि अमुक तो वीतरागी है इसलिये सदाप्त है और वह अमुक सरागी है अतः कदाप्त है मानने योग्य नहीं है और ऐसी हालत में निर्वाह का रास्ता क्या है। इसके लिये हम बताते हैं कि साधारण दृष्टि में ऐसा है परन्तु जरा गम्भीर विचार से देखने पर हर एक के पास वह बुद्धि है कि इस बात का निर्णय कर सके। एक अबोध बच्चा भी अपनी माँ को सहज में खोज लेता है। सोना और पीतल दोनों पीले होते हैं साधारण तौर पर कोई यह नहीं कह सकता कि उनमें क्या अन्तर है किन्तु सर्राफ उसे स्पष्ट जानता है कि यह सोना है और यह पीतल। एक कवि ने लिखा है—

> सच्चा झूठा आदमी छिपे न कभी छिपात।
> काँसे रूपे की परख बोली से हो जात॥

अब वे दोष कौन से हैं जो आप्त में नहीं होने चाहिए सो बताते हैं—

क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

अर्थात्—भूख, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म लेना, मरना, भय—किसी भी प्रकार का डर, घमण्ड, मोहब्बत करना, नाराज होना, भूल खाना, एवं चिन्ता फिक्र करना, किसी बात से रुचि रखना, नींद लेना, आश्चर्य में पड़ना, विषाद करना, पसीना और थकावट आजाना ये दोष ऐसे हैं जो आदमी की सचाई में बाधक होते हैं अतः एक सत्यवक्ता आप्त में इनका आंशिक रूप में भी होना ठीक नहीं।

शङ्का—आप यह जो कहते हैं कि सच कहने वाले में क्षुधादि दोष बिलकुल नहीं होने चाहिए सो समझ में नहीं आता हम तो जितने भी आदमियों को देखते हैं तो किसी में कम और किसी में ज्यादा उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। ऐसा कोई भी नहीं हो सकता जो इनसे सर्वथा दूर हो।

उत्तर—भाई साहब जब आप यह कहते हो और देख रहे हो कि क्षुधादि किसी के ज्यादा है तो किसी के कम, ऐसी हालत में यह भी सम्भव है जो किसी के अन्दर बिलकुल भी न हो। एक कपड़े में बहुत मैल है, दूसरे में

कम, तीसरे में उससे भी कम तो कोई कपड़ा ऐसा भी है जिसमें जरासा भी मैल नहीं है।

शङ्का—कपड़े में तो मैल ऊपर से आता है परन्तु मनुष्य में उपर्युक्त दोष सदा से हैं इसलिए दोनों बात एक कैसे हो सकती हैं ?

उत्तर—कपड़े को रहने दो। सोना जो खानि से निकलता है उसमें किसी में ज्यादा मैल होता है और किसी में कम; किन्तु सुनार के द्वारा संशोधन किए हुए सोने में बिलकुल नहीं होता। हां उसके संशोधन करने में कुछ कसर कर दी जाती है जो जरा कुछ मैल फिर भी रह जाता है अन्यथा वह एकदम शुद्ध होकर सौटंच का बन जाता है उसी प्रकार कोशिश करने पर मनुष्य भी निर्दोष बन सकता है तदेवं—

> नवसादर टङ्काग्नि—वशात् स्वर्णं विशुद्धयति।
> तथा सत्सङ्गसौहार्दतपोभिरयमात्मवान्॥

अर्थात् जिस प्रकार नौसादर और सुहागा डालकर सुवर्ण को अग्नि में अच्छी तरह तपाने से वह बिल्कुल कीट रहित शुद्ध बन जाता है उसी प्रकार सत्पुरुषों के सङ्ग को प्राप्त होकर अपने मन को पुनीत बनाने और बाहिरी आवश्यकता को मिटाने रूप तपस्या के द्वारा हम अपनी

आत्मा को भी शुद्ध निर्दोष बना सकते हैं, ऐसा करने से हमारे साथ लगे हुए रागादि दोष मिट सकते हैं। ऐसा करने से यह जीवात्मा ही परमात्मा बन जाता है जैसे कि पारस पत्थर का संसर्ग पाकर लोहा ही सुवर्ण के रूप में बदल जाता है अथवा चन्दन के पेड़ के पास रहने वाला नीम का पेड़ भी चन्दन ही हो जाया करता है और फिर उसे लोग नीचे वाले नामों से पुकारते हैं।

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

अर्थात् हे भगवन् आप परा—संसारातीता, मा लक्ष्मीः शोभा यत्र तस्मिन् परमे स्थानेतिष्ठतीतिपरमेष्ठी, मतलब यह दुनियादारी का आत्मा, बाह्य के पदार्थों को बटोर कर अपने आपको सम्पत्तिशाली समझता है परन्तु आप तो दुनिया की सब चीजों को लात मारकर ऐसे सम्पत्ति शाली बने हैं ऐसी महिमा के धारी हुए हैं कि संसार के इन्द्र चक्रवर्ति वगैरह सभी महा पुरुष आपको सिर झुकाते हैं। आप परंज्योति हैं सूर्य चन्द्रमा वगैरह संसार के जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं वे किसी न किसी से प्रतिहत हो जाते हैं परन्तु आप तो ऐसे दिव्य ज्योति के धारक हैं जो कभी किसी के द्वारा दबाई नहीं जाती सदा

प्रकाशमान रहती है। आप पूर्ण वीतरागी हैं, आपकी दृष्टि में कोई भी भला या बुरा न होकर सभी अपने परिणमन के अनुसार परिणमन करते हैं अतः सभी भले हैं। आप विमल हैं अर्थात् आप में किसी भी दूसरी चीज का सम्मिश्रण नहीं है। आप कृती हैं, जो कुछ करना था कर चुके हैं। संसार के भूत भविष्यत और वर्तमान में होने वाले तमाम पदार्थों को जानते हैं इसलिए आप सर्वज्ञ हैं। आपकी आत्मा अनादिकाल से अपने आत्मत्व को लिये हुए है और वह अनन्त काल तक वैसी ही रहेगी इसलिए आदि मध्य और अन्त रहित हैं। और आपने बतलाया कि जिस प्रकार मैंने मेरी आत्म-साधना से क्रमशः रागादि दोषों को दूर हटा कर उसे परमात्मा बना लिया है उसी प्रकार हर एक जीवात्मा भी अपने पैरों खड़े हो कर अपने आप को परमात्मा बना सकता है, इसलिए आप सार्व हैं और इसीलिए आप का शासन सर्व-हितकर है सभी उसका हृदय से स्वागत करते हैं अतः आप ही वास्तव में शास्ता हैं। इत्यादि सुन्दर शब्दों में उस आप्त परमात्मा की सभ्य लोग स्तुति करते हैं। अब यहां शङ्का हो सकती है जब वह आप्त वीतरागी है तो फिर वह लोगों को बिना किसी इच्छा के सन्मार्ग का उपदेश कैसे देता है सो बताते हैं—

अनात्मार्थं विनारागैः शास्ता शास्ति सतो हितं।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

जैसे बजाने वाले के हाथ का स्पर्श पाकर मृदङ्ग आवाज करता है उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार भगवान सर्वज्ञ भी अपने निजी प्रयोजन के ख्याति-लाभ पूजा प्रतिष्ठादि की चाह के बिना ही सिर्फ भव्य पुरुषों के पुण्योदय से उनके कल्याण का मार्ग उन्हें बताते हैं। हम देखते हैं कि भूतल पर भी जो जितना बड़ा आदमी होता है वह उतना ही निस्वार्थवृत्ति से प्रजा की सेवा में संलग्न होता है स्वार्थपरता तो क्षुद्र आदमियों का काम है। एक कवि ने बहुत ही अच्छा कहा है—

अपना मतलब शोचकर करें जगज्जन प्रीति।
परकेदुख सहजहिंहरे यही बड़ों की रीति॥

अपने प्रयोजन को लेकर अगर किसी ने किसी की मदद की उसका कष्ट दूर किया इसमें कौनसी बड़ी बात हुई यह तो आप लोगों की चाल है बड़ा आदमी तो वह कहलाता है जो सहज रूप से ही दूसरों के दुःख दूर करने में तत्पर रहता हो परोपकाराय सतांविभूतयाः इस सर्व प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार सत्पुरुषों का तो सर्वस्व ही परोपकार के लिये होता है वे दूसरों का भला

करके ही अपने जीवन को सफल मानते हैं। देखो गाय का दूध औरों के काम में आता है, गाछ दूसरों के लिये ही फलते हैं, मेघ बरषकर विश्व का कल्याण करता है। उसे अपना क्या प्रयोजन है बताओ।

शङ्का—मेघ वगैरह तो निर्जीव जड़ पदार्थ हैं उनके तो इच्छा होती ही नहीं किन्तु शरीरधारी की प्रवृत्ति इच्छा से ही होती है तिस पर भी बोलना, भला हम बोलना चाहेंगे ही नहीं तो क्या जबरन हमारा मुख खुलकर आवाज होने लगेगी, कुछ समझ में नहीं आता।

उत्तर—भाई साहब आप कहते हो सो ठीक, परन्तु कभी कभी ऐसा भी तो होता है कि हम बोलना तो कुछ और चाहते हैं किन्तु बुल जाता है कुछ और ही वह बिना इच्छा के ही तो बुलता है। एवं कभी २ हम लोग नींद में भी तो बर्रा जाते हैं कि नहीं वहां पर कहा इच्छा है बल्कि उसके अनन्तर भी हमें जब चेत होता है तो मालूम भी नहीं होता, पास वाले लोग ही कहा करते हैं कि आज तो तुम बर्रा गये।

शङ्का—वहां पर तो हमारी पूर्व कालीन इच्छा से काम होता है।

उत्तर—बस तो ऐसा ही वहां पर भी समझ सकते

हो क्योंकि भगवान् अपनी पूर्व छद्मस्थ अवस्था में होते हैं उस समय इन संसार के प्राणियों को त्रस्त देखकर अपने दयार्द्र दिल में ऐसा विचार करते हैं कि ये प्राणी कौनसे उपाय से इस दुःख सङ्कट से उन्मुक्त हो सकते हैं, क्या किया जाय मैं इनको दुःखी नहीं देख सकता इत्यादि उनकी उस समय की वह सद्भावना ही उनकी जीवन मुक्त अवस्था में संसार के प्राणियों पर अनुशासन करने का कारण बनती है किन्तु उस समय उनके कोई इच्छा नहीं होती। इस प्रकार आप्तका स्वरूप बताकर अब आगम का स्वरूप बता रहे हैं—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य मदृष्टेष्टविरोधकं।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं ॥९॥

जो मूल में उपर्युक्त आप्त का कहा हुआ हो, जिसकी आज्ञा को कोई भी टाल न सकता हो, जिसमें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से किसी प्रकार की बाधा न आती हो, जो वस्तु स्थिति को लेकर उपदेश करने वाला हो किसी भी व्यक्ति विशेषका पक्षपात न करके प्राणी मात्र के हित का कथन करता हो, एवं जो उत्पथ का निषेध करने वाला हो वह आगम होता है।

हम देखते हैं कि इस भूतल पर अनेक मत प्रचलित हैं, जो किसी न किसी शास्त्र के आधार पर

हैं और वे सभी अपने अपने शास्त्र को सर्वज्ञ
सत्य एवं यथार्थ दर्शी के द्वारा कहा बतलाते हैं
मानते हैं। उनका ऐसा मानना एक अपेक्षा से है भी
ठीक क्योंकि अगर वे ऐसा न मानें तो फिर वे उसके
अनुसार चले भी क्यों। किन्तु इसमें विचारणीय बात
यह है कि वे आपस में एक दूसरे से टकराते हैं उन
में एक को बात का दूसरे की बात के साथ कोई मेल
नहीं बैठता। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि एक
ही शास्त्र में पहिले कुछ और बात लिखी हुई मिलती है
तो आगे चलकर उसके विरुद्ध दूसरी ही बात लिखी हुई है
ऐसी हालत में वे सब सत्य मार्ग के प्रतिपादन करने
वाले कैसे कहे जा सकते हैं। तो फिर क्या किसी को न
माना जाय? नहीं, ऐसा नहीं। किन्तु जिसका कथन
युक्तियों के द्वारा कटता न हो या जो पूर्वापर असम्बद्ध
न हो एवं जिसका कहने वाला पुरुष विश्वास का पात्र
हो उस आगम को स्वीकार करना ठीक है। इतरथा
उससे हमको सावधान रहना होगा, मानलो एक आदमी के
पास उसके परम मित्र का पत्र आया जिसमें लिखा हुआ
था कि तुम्हारी औरत विधवा हो गई है उसे पढ़ कर
वह रोने लगा, पास वालों ने पूछा कि भाई साहब क्या
हुवा क्यों रोते हो, तो बोलता है कि मेरे मित्र का पत्र

आया है कि तुम्हारी औरत विधवा होगई ऐसा सुनते ही लोग हंसे, बात भी हंसने की थी, क्योंकि उसे सोचना चाहिए था कि मेरे रहते हुये मेरी औरत विधवा कैसे हो सकती है ? इस पत्र में अवश्य गड़बड़ी है भले ही तो मेरे मित्र के नाम से किसी मजाकी आदमी ने ऐसा लिख भेजा है अथवा मेरा मित्र लिखना चाहता होगा कुछ और किन्तु प्रमाद से लिखा गया है ऐसा । और इन ऐसी आपत्तियों से डर कर ही कितने ही लोग तो अपने मान्य आगम को अनादि या अपौरुषेय कहने लगे परन्तु प्रथम तो कोई भी आगम ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि वह वर्ण पद वाक्यात्मक होता है और वाक्य पुरुष प्रयत्न पूर्वक ही होते हैं । थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय तो वह अपौरुषेय आगम भी अपना अर्थ हमें अपने आप तो बता नहीं सकता, उसके जानने के लिये भी किसी विशेषज्ञ पुरुष की शरण लेनी पड़ेगी । किञ्च अपौरुषेय होकर भी सभी बातें उपयोगी और प्रमाणिक नहीं होतीं, चोरी और जारी वगैरह किसी भी पुरुष विशेष की चलाई हुई न होकर परम्परा से चली आई हुई हैं । फिर भी वे हेय हैं । पूज्य पुरुषों का विनय करना लड़के को उसके माता-पिता सिखाया करते हैं फिरभी वह उसके लिये उपयोगी होता है । अतः यही मानना ठीक है कि आप्त

पुरुष का कहना ही आगम होता है वही हमको उत्पथ में जाने से रोकता है। इस प्रकार आगम का स्वरूप कह कर अब तपस्वी धर्म गुरु का स्वरूप बताते हैं।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

मनुष्य के पास स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं जो अपना २ विषय चाहती हैं और यह मनुष्य उसीकी पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न किया करता है, हर तरह से उन्हीं को खुश बनाये रखने की चेष्टा करता है और इसी आशा में वह हरएक का दब्बू होकर चलता, हर तरह की बाह्य वस्तुओं को बटोर कर उन इन्द्रियों को तृप्त करने के साधन बनाये रखता है। इसी उधेड़ बुन में व्यस्त होकर अपने जीवन को खत्म करता है, यह इस संसारी जीव की दशा है। कितना ही क्यों न समझाया जावे पर फिर भी यह इस अपनी रोज-मर्रा की आदत को बदलने के लिये लाचार होता है। कोई विरले ही ऐसे महापुरुष होते हैं जो इन इन्द्रियों के वश में न होकर इनको अपने काबू में कर लेते हैं। जब इन्द्रियां वश में हो गईं तो उन्हें किसी की परवाह नहीं और न किसी बाह्य वस्तु की जरूरत ही रहती है अतः वे अपनी पूर्व संग्रहीत बाह्य वस्तुओं को भी त्याग कर

सामान्य रूप से एक तत्काल जात बच्चे के समान निर्विकार हो जाते हैं। उसमें और उनमें अगर कोई भेद रह जाता है तो यही कि वह अबोध होता है तो व सद्बोध, उसे अपने आप की भी खबर नहीं होती, परन्तु ये अपने आत्मस्वरूप का प्रायः हर समय विचार करते रहते हैं। उस पर कोई एक चपत भी मारता है तो वह रो देता है किन्तु ये घोर से घोर आपत्तियां आने पर भी नहीं घबराते प्रत्युत उन्हें सम्पत्ति के रूप में मानते हैं। इनकी दृष्टि में शत्रु और मित्र, महल और श्मसान, तृण और कांचन सब एक समान हो जाते हैं। संसार की सभी वस्तुओं को वे अपने लिये बेकार अनुभव करते हैं। हर समय अपनी आत्म चिन्तनामें लगे रहकर "मेरे द्वारा संसार के किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की पीड़ा न होने पावे, चींटी से लेकर हाथी तक छोटे बड़े सभी जीव सुखी बनें" इस प्रकार की सद्भावना रखते हैं। जिनके मन में काम, क्रोध, मद, मत्सरादि को कहीं और कभी भी स्थान नहीं मिलता। प्रत्युत—

जब लग जोगी जगतगुरु जब लग रहे उदास।
जब आशा पाशी बंधा हुवा जगत का दास॥

इस कहावत के अनुसार दुनियादारी का एक धागा भी स्वीकार करना अपने लिये कलंक समझते हैं। सिर्फ

आत्मसाधना और परोपकार की दृष्टि से शरीर की स्थिति के लिये दिन में एक बार उद्दण्ड रूप से अनुद्दिष्ट और शुद्ध सरस या नीरस जैसा भी गृहस्थ के यहां मिल जाय, वैसा भोजन अपनी अञ्जलि से खड़े खड़े ग्रहण करके चले आते हैं, वे ही सच्चे तपस्वी होते हैं; जैसा कि भर्तृहरि जी ने भी बतलाया है—

एकाकी निस्पृहः शान्तः कर्मनिर्मूलनक्षमः।
कदाऽहं सम्भविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म पाने का फल ही एक यह है कि आदमी अपनी आवश्यकताओं को दूर हटा कर दिगम्बर अवस्था को धारण करे, करपात्रभोजी बने, एवं आत्मसहायी होता हुवा परम शान्त बनकर अपने पूर्व कृत कर्मों को नष्ट कर डाले। हरएक आदमी को अन्त तक ऐसा करना ही चाहिये और अगर किन्हीं बाधककारण कलाप की वजह से ऐसा न भी कर सके तो जो ऐसा कर रहे हैं उन्हें आदर्श मानकर अपने आप को उनका अनुगामी तो अवश्य रखना चाहिये।

हम देखते हैं कि खाना, सोजाना, आराम तलब करना, खुद डरना और औरों को डराना यह सब हर एक प्राणी में जैसे मनुष्य में वैसे ही पशु पक्षियों में भी

पाये जाते हैं फिर भी यह मनुष्य उन पशुओं से एक अच्छा समझा जाता है सो क्यों ? इसमें ऐसी कौन - सी विशेषता है ? वह यही कि मनुष्य बुद्धिपूर्वक त्याग करना जानता है और इसी से इसकी प्रतिष्ठा है। जो जितना बड़ा त्याग करता है वह उतना ही आदरणीय समझा जाता है। देखो लड़के के लिए माता और पिता दोनों का एक दर्जा है, दोनों ही उसका लालन पालन करते हैं दोनों ही उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते हैं फिर भी जब कोई उसे मारता पीटता है या उस पर कोई आपत्ति आती है तो वह चट से मां को याद किया करता है बाप को नहीं इसका क्या कारण है ? यही कि माता जिस निस्वार्थ भाव से बच्चे की सेवा करती अपने आराम को छोड़कर भी उसे आराम पहुंचाना चाहती है। आप गीले में सोकर उसे सूखे में सुलाया करती है उसके टट्टी पेशाब को साफ करती है हर समय उसके पीछे लगी रहती है पिता ऐसा नहीं कर सकता यही बात है कि लड़का आपत्ति के समय अपनी मां को याद किया करता है। मनुष्य की महिमा त्याग से ही है मनुष्य जन्म पाकर भी जिसमें त्याग की भावना नहीं वह मनुष्य नहीं बल्कि पशु से भी गया बीता है क्योंकि कहा है—

पनही पशु की होत है नर का कुछ नहिं होय।
नर यदि नर करणी करे तब नारायण होय॥

पशु का हर एक अङ्ग प्रायः मनुष्य के काम में आया करता है उसक चमड़े से पगरखी बनती हैं जो हमें काँटों से बचाती है परन्तु यह मनुष्य शरीर ऐसा निकम्मा है जो किसी काम में नहीं आता मरने पर जला दिया जाता है जिसके लिये कफन और काठ और भी लगाने पड़ते हैं लेकिन अगर अपने कर्तव्य को सम्भाले त्याग मार्ग की तरफ झुके सम्पत्ति पाकर न फूले, उसे अपने ही काम में न लेकर परोपकारार्थ अर्पण करे एवं विपत्ति आने पर रोना न जानता हो तो नर नर ही है वह ऐसा करके एकदिन नर से नारायण अर्थात् परमादरणीय बन जा सकता है उन्नति का यही एक मार्ग है।

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गे ऽसंशयारुचिः॥११॥

ऊपर बताया जा चुका है कि आत्मोन्नतिका सच्चा मार्ग विवेक रूप त्याग है जो कि अहिंसा का पूर्ण प्रतीक है और उसे स्वीकार करना ही मनुष्यत्व है उसे छोड़कर मनुष्यत्व कोई दूसरी चीज नहीं है इस प्रकार दृढ़ विश्वास

पूर्वक सन्मार्ग पर तलवार की धार के समान बिलकुल बेधड़क होकर चलना यह किसी भी सयाने आदमी का सबसे पहला गुण है।

दुनियांदारी के लोग जो स्त्री पुत्र धनादि को अपना मान कर उनमें लुब्ध हो रहे हैं अथवा इस नश्वर शरीर को ही अपना रूप समझ रहे हैं उन्हें हर समय अनेक प्रकार के भय बने रहते हैं वे सोचा करते हैं कि १ मैं कहीं मारा न जाऊं, २ मुझे कोई तरह की उपाधि न हो जाये, ३ मुझे कोई बुरा भला न कह बैठे, ४ मेरा पर लोक न बिगड़ जावे, ५ मेरे स्त्री पुत्र धनादि को कोई न सतावे, ६ जल, अग्नि और चोर वगैरह की वजह से अगर मेरी सम्पदा नष्ट होगई तो क्या करूंगा, ७ इस स्वार्थ भरी दुनिया में मुझे किसी का सहारा नहीं है इत्यादि। और भी अनेक प्रकार के भय उन्हें आगे से आगे आखड़े होते हैं परन्तु जो सत्यपथ का पथिक है वह सोचता है मेरी आत्मातो अजरअमर है, इस तक तो कोई पहुंच नहीं सकता और इन बाह्य वस्तुओं से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है फिर मैं व्यर्थ ही क्यों चिन्ता करूं और मेरी चिन्ता से होना जाना भी क्या है क्या मैं इनके परिणमन को बदल सकता हूं ? कभी नहीं, इनका परिणमन इनके अधीन है। ये तो मेरे से बिलकुल भिन्न हैं। मेरा शरीर जो मेरे साथ लगा

हुवा है वह भी तो और से और होता चला जारहा है जोकि मेरे से एक दिन जुदा होवेगा ऐसा सोचकर वह निःशङ्क और मध्यस्थ रहता है। हानिलाभ, यश अपयश और जीवन मरण में किसी भी प्रकार का हर्ष विषाद नहीं करता सदा प्रसन्न रहता है। जैसा कि कहा है—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसेदिवसेमूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

अस्तु! लोक व्यवहार भी इसी विचारशील आदमी का सुचारु होता है न कि मूढ़ आत्मा का। मानलो एक आदमी का बाप बीमार पड़ गया अब अगर वह आदमी विचारशील है तब तो घबरावेगा नहीं और उचित रूप से उसके इलाज में तत्पर रहेगा। भला जो प्राणी मात्र के दुःख दूर करने में सहायक होता है वह अपने बाप की पीड़ा में उदासीन कैसे बन सकता है अच्छी तरह से उसका इलाज करेगा फिर मरना जीना उसकी आयु कर्म के आधीन है। किन्तु हां अगर वह मूढ़ है तो पिता के बीमार होने का नाम सुनते ही घबरा जायगा, उसका इलाज करना तो दूर रहा प्रत्युत बार बार हाय तोबा करके उस पिता की आत्मा को और भी अधिक सन्तप्त बना देगा। एवं विचारहीन एकान्त मुग्ध आदमी भयभीत होकर

अपने आपको तथा औरों को भी आपत्ति का कारण बन जाता है। किन्तु विचारशील पुरुष की हर समय औचित्य पर निगाह रहती है एतावता (इसलिये) वह जगह की जगह व्यवस्था करता हुआ भी किसी प्रकार के झूठे प्रलोभन में नहीं फंसता और इसीलिये उसको किसी की भी खुशामद करने की या किसी से भी डरने की गुन्जाइश ही नहीं होती। हाँ, अगर वह डरता है तो एक अनुचित बर्ताव करने से—अन्याय मार्ग से और उसे पक्षपात होता है तो एक न्याय मार्ग का। जैसा कि—

रोषं प्रयातु मनुजोऽप्युततोषमेतु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टं।
अद्यैव वास्तु मरणं तु युगान्तरे वा,
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

अर्थात् चाहे कोई राजी रहे या नाराज हो जाय, सम्पत्ति प्राप्त हो व विपत्ति का सामना करना पड़े, मरे या जीवे, कैसा भी क्यों न हो किन्तु समझदार आदमी सत्य मार्ग से एक कदम भी पीछे को नहीं हटता, निःशङ्क होकर उसपर डटा रहता है। क्योंकि उसे दुनियादारी के सुख दुःख की जरा भी परवाह नहीं होती।

कर्मपरवशे शान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता॥१२॥

वह सोचता है कि यह बाह्य वस्तुओं का उपभोग करना(काम में लाना)सुख न होकर सिर्फ वेदना का(इलाज) प्रतिकार मात्र है जिसे लोग भ्रम से सुख मान रहे हैं। जैसे एक दाद के रोगी को खुजाल चलती और वह सह्य नहीं होती तो वह उसे अपने नाखूनों से या और किसी चीज से खुजाता है यहाँ तक खुजाता है कि खून तक निकल आता है किन्तु वह अपने आपको उससे सुखी समझता है यह उसकी गलती है क्योंकि उस खुजाने से उसका वह दाद न मिटकर प्रत्युत बढ़ता है और थोड़ी ही देर बाद वेदना पहले से दुगुनी होने लगती है। यही विषय भोग का हाल है। दूसरे वह दैवाधीन है। पूर्वोपार्जित सुकृत के उदय से प्राप्त होता है अपने हाथ की बात नहीं है सब लोग चाहते हैं कि हम धनवान बनें और उसके लिये अथक परिश्रम भी करते हैं फिर भी लाभ उसी को होता है जिसको कि होना होता है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि वैषयिक सुख कर्म अर्थात् हमारे मन वचन काय की चेष्टा के ऊपर निर्भर होती है। मानलो हमारे पास हमारे खाने की लड्डू पूरी कचौरी और बरफी वगैरह प्रायः सभी चीज हैं किन्तु उसी

चीज के खाने से सुख होता है जिसको कि जिस समय हमारा मन चाहता हो एवं उससे भी हमें जभी सुख होगा जबकि हम उसे अपने मुंह से खावेंगे और वह भी उतनी ही देर के लिये कि जब तक वह हमारी जीभ के ऊपर रहे और अगर जीभ के कहीं लकवा मार गया हो तब तो फिर कुछ भी नहीं। इस प्रकार विषयों का सुख बिलकुल पराधीन और चणिक है तथा वह भी दुःख से मिला हुआ होता है। मानलो एक आदमी के घर में लड़का पैदा हुआ, आनन्द हुआ साथ ही साथ जच्चा बीमार होगई उसको खेद भी हुआ। इसी प्रकार से जितना भी साँसारिक सुख है वह सब शहद लपेटी हुई तलवार की धार को चाटने के समान होता है। एवं इस विषय सुख को भोगते समय मनुष्य खुदगर्ज होता है एतावता आगे के लिये पाप का उपार्जन करता है। इन सब बातों को लेकर एक सत्यपथका पथिक महाशय विषय सुख के भोगने से उदासीन रहता है उसे वह निस्सार समझता है और यह बात सही भी है। जिसने त्यागमार्ग के आनन्द को अपने हृदय में स्थान दे दिया है उसे वह (विषयसुख) अच्छा लग भी कैसे सकता है। जिन्होंने घी को नहीं देखा है वे भले ही तिलों के तेल को मीठा कहते रहें परन्तु जिसने घी का जायका पा

लिया वह फिर तिलों के तेल को कैसे पसन्द कर सकता है। वह अपने ग्रहस्थ जीवन में ग्रहस्थ के कार्यों को करते हुए भी उनसे अपने आप को भिन्न समझता है जैसे जल में रह कर भी कमल जल से बिल्कुल अलिप्त रहता है। खाते पीते सोते उठते हर समय में वह अपने आप को नहीं भूलता हुआ उन्हें लाचारी के साथ करता है जैसे पुलिस के कब्ज में आया हुआ एक अपराधी हथकड़ी बेड़ी पहनता है परन्तु वह उन्हें पसन्द नहीं करता; सोचता है तैने अपराध किया, चोरी की, इसीलिये तुझे ऐसा करना पड़ता है उसी प्रकार सत्यमार्गानुगामी ग्रहस्थ भी विचारता है कि तूने भूल कर दुनियांदारी को अपना लिया अतः तुझे ऐसा करना पड़ता है वरना यह सब निस्सार और बेकार है एवं उसकी नजर में इन्द्र और चक्रवर्ती का पद भी एक खलके टुकड़े के तुल्य होता है। वह उसे कोई महत्व नहीं देता। वह राजा और रङ्क दोनों को अपनी नजर में एकसे समझता है दोनों को कर्मरूप नटवे के द्वारा नचाये हुए नाचने वाले मानता है। राजा के धोये पोछे शरीर को अलंकारों से लदा देखकर उससे प्रेम नहीं करता तो रङ्क के धूल से धूसरित शरीर को देख कर उसे बुरा नहीं मानता सोचता है यह सब कर्मों का खेल है तदेव—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मतानिर्विचिकित्सिता ॥१३॥

क्या अमीर और गरीब, क्या ब्राम्हण और क्या चाण्डाल सब का शरीर एक मार्ग से बना हुआ है। माता के रुधिर और पिता के वीर्य से इसकी उत्पत्ति होती है, हाड़ मांस, मज्जा, लोहू से बना हुआ है, मलमूत्र वगैरह का कुण्ड है, सहज भाव से घिनाबना है। इसमें एक के शरीर को भला और दूसरे को बुरा मानना भूलभरा है। कितना ही इसे धोया जाय, नहलाया जाय, चुपड़ा जाय तो भी यह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। इस शरीर में जितनी चीजें हैं उनमें कोई भी सारभूत नहीं है अगर इसमें सार है तो यही कि इस को पाकर तपश्चरण किया जाय, इसे परोपकार में लगा दिया जाय और ज्ञान सम्पादन किया जाय तभी यह आत्मा पुनीत और पावन होकर जगत् पूज्य बनता है जिसके साथ साथ यह शरीर भी पवित्र बनता जाता है। हम देखते हैं कि ऋषि लोगों के चरण स्पर्श से यह भूमि भी पवित्र बन जाती है, हमारे पापों को नष्ट करने वाली हो जाती है। दुनियां में जितने भी तीर्थ माने जाते हैं प्रायः सब तपस्वियों महर्षियों के चरण स्पर्श से ही हुए हैं, जिनको कि पूज कर जनता अपने आपको धन्य समझा करती है।

ऋद्धिधारी ऋषियों के शरीर को स्पर्श करके आया हुआ वायु स्पर्श कर हम लोगों के बड़ २ रोग दूर होते हुए देखे गये हैं यहांतक कि उनके मलमूत्रादि को स्पर्श कर बहुतों का भला हो जाता है यह सब करामात तपस्या की ही तो है, वही उनकी आत्मा के साथ २ उनके शरीर का भी परिणमन कर देता है। अन्यथा तो फिर जन्म मात्र से किसी का भी शरीर पवित्र नहीं होता है जैसाकि 'गुणाः पूजास्थान गुणिषु न च लिंगं न च वयः' इस प्रसिद्ध उक्ति से भी स्पष्ट होता है मतलब, यह हमारे से बड़ा है अथवा यह जाति वगैरह लिंग विशेष को लिये हुये है एतावन्मात्र से कोई भी पुरुष पूज्य नहीं होता किन्तु पूजासत्कार करने वाला आदमी उसके गुणों की तरफ निगाह किया करता है जिसका कि आदर करना चाहता है। जो आदमी जितना ज्ञानवान हो, जितना सदाचारी हो, जितना भी विश्वासपात्र हो वह उतना ही आदर पाता है क्योंकि सन्मार्गानुगामी पुरुष उपर्युक्त गुणों का ही ग्राहक होता है इसलिये जिसमें भी ये गुण पाता है फिर भले ही वह शरीर से लूला हो, लंगड़ा हो, काला हो, गोरा हो, नीरोग हो या रोगी हो, ब्राह्मण हो, या चाण्डाल हो, कोई भी क्यों न हो, बिना किसी भी प्रकार की घृणा के उस का तन मन से स्वागत करेगा उसकी परिचर्या करेगा ऐसा

करने से ही सर्वसाधारण लोग सदाचरणादि गुणों की ओर सहजतया प्रवृत हो सकेंगे। समझदार आदमी अपने आपको तथा औरों को भी गुणवान बनाना चाहता हैं अतएव उस की हर समय गुणों की तरफ निगाह रहती हैं वह शरीर की तरफ का तो विचार ही नहीं करता क्योंकि वह सोचता हैं कि शरीर तो पुद्गल है पूरणगलन होना इसका स्वभाव ही है यह तो अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकता। संसार की जितनी भी चीजें हैं वह सभी अपने अपने स्वभाव के अनुसार परिणमन करती हैं इनमें कौन भली हैं और कौन बुरी ? कुछ नहीं कहा जा सकता। अगर कोई बुरी चीज या घृणा की जगह है तो एक मेरे सरीखे मनुष्य की आत्मा है जो कि अपनी भली आदतों को भूलकर बुरी आदतों को अपना रहा है। ऐसा सोचकर वह अगर घृणा करता है तो सिर्फ पापों से और किसी से भी नहीं।

> कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
> असंप्रक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥१६॥

जिसमें कांटे बिछे हुये हों या जो ऊंचा-नीचा हो, जिसमें गड्ढे बने हुये हों एवं जिसमें चलने से चलने वाले को कष्ट भोगना पड़े, ऐसे मार्ग को कुमार्ग कहते हैं। इसी प्रकार जिस बात के करने से हमें अपने आपको तथा औरों को भी जीवन यात्रा के निर्वाह में कष्ट का

सामना करना पड़े उसे भी कुमार्ग समझना चाहिये। इस भूमण्डल पर होने वाली हमारे खाने-पीने की, पहरने-ओढ़ने या और किसी काम में आने वाली चीजों को, औरों की कुछ परवाह न करके हम अपने ही काम में लेने की या उन पर अपना ही अधिकार जमाये रखने की चेष्टा करें, इसी का नाम स्वार्थपरता है और यह स्वार्थपरता ही हमारे जीवन मार्ग में कांटे का काम करती है। बात यह है कि दुनिया के अधिकांश मनुष्य देखा-देखी करने वाले हैं जैसा एक को करते देखता है वैसा ही दूसरा भी करने लग जाता है। जैसा बाप करता है वैसा बेटा भी और जैसा हम करते हैं वैसा ही हमारा पड़ौसी भी। एक समय की बात है बसन्त के दिन थे, चन्द मित्र मिलकर हवाखोरी को निकले, बगीचे में पहुंचे, वहां पर एक आम के पेड़ पर बहुत से आम लगे हुये थे जो सब कच्चे थे किन्तु एक आम उनमें पका हुवा था। एक साथी बोला देखो यह कैसा अच्छा पका हुआ है इसे मैं खाऊंगा, ऐसा कहकर आम की तरफ लपका, दूसरा बोला—नहीं तुमको नहीं खाने दूंगा इसे तो मैं खाऊंगा इतने में तीसरा कहता है—मैं तुम दोनों का ताऊ हूं मैं दोनों को मारूंगा और इसे तो मैं खाऊंगा। तीनों में धरपकड़ होने लगी कोई भी न माना। इतने में

उनमें से एक ने युक्ति निकाली, अपना रुख बदला, कहने लगा, अरे यह आम तो जहरीला है चलो मैं तो इसे नहीं खा सकता देखो इस पेड़ की कोख में साँप है उसने इसे डाक लिया है इसीसे यह ऐसा पका है वरना देखो और तो कोई भी नहीं पका। इतना सुनते ही दूसरे भी बोले—हां ऐसा है तब तो इसे हम छूते भी नहीं खाना तो दूर रहा। सभी दूर हुये, लड़ाई मिट गई। बस यही दुनियाँ का हाल है। दुनियां के मनुष्य अपना पेट पालना चाहते हैं अपनी रोटी के ताव देना जानते हैं और दूसरों से ईर्ष्या द्वेष रखते हैं। मनुष्य का असर सब प्राणियों पर पड़ता है प्राणियों पर ही नहीं बल्कि भूतल की प्रायः सभी चीजों पर मनुष्य की भावना का प्रभाव दिखाई देता है क्योंकि मनुष्य सबका मुखिया है। मनुष्य का दिल जब संकीर्ण होता है वह औरों की भलाई करने से मुंह मोड़ लेता है। मेघ भी समय पर नहीं बरसता, गाछों पर फल नहीं आते उन्हें हवा मार जाती है या कीड़े लग जाते हैं और इस वसुन्धरा पर भी फसल नहीं पैदा होती सब दुःखी हो जाते हैं। हां, मनुष्य अगर अपनी भावना को बदल दे परोपकार मय बनाले तो फिर दुनियां की चीजें भी उसी रूप में परिणित हो जाती हैं। देखो हम रामायण में सुना करते हैं कि रामचन्द्र जी

जहां जाते थे वहां सूखे गाछ हरे हो जाया करते थे और तालाबों में पानी भर आता था इत्यादि इसका कारण यही कि उनके अन्तरंग में परोपकार की भावना प्रबल थी।

पाठक इससे यह अच्छी तरह समझ गये होंगे कि मनुष्य की स्वार्थपरता ही एक अनर्थ का मूल है। परन्तु फिर भी कितने ही स्वार्थी लोग अपने स्वार्थवश अनेक तरह की युक्तियों द्वारा उसी स्वार्थ मार्ग की पुष्टि करते हैं और भोले जीवों को धोके में डालना चाहते हैं। ऐसे लोगों की कुरीतियां बहुत सी प्रचलित हैं देखो एक जगह सुना गया है कि—

> यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

मतलब यह है कि—खावो-पीवो मौज से रहो, व्रत उपवासादि में क्या रक्खा है। जान बूझकर कष्ट में पड़ना कौनसी समझदारी है। नरक और स्वर्ग को कौन देखने गया है। इन ऐसा कहने वालों को यह भी तो सोचना चाहिये कि एक आदमी तन्दुरुस्त माता पिता की सन्तान होकर भी जन्म रोगी और दूसरा नीरोग होता है। एक अथक परिश्रम करके भी दरिद्र बना रहता है और दूसरा अनायास मालामाल हो जाता है। एक जहां जाता धक्के खाता है और दूसरे का दुनियां स्वागत करती

है। सो क्यों? इसका भी तो कोई कारण होना चाहिये कि नहीं। एवं भूतादि को भी अपना पूर्व परिचय देते हुये हम लोग स्पष्ट रूप से पाते हैं। इसलिये दुनिया के भोले जीव भले ही उन धूर्तों के भुलावे में आजावें किन्तु जो खुद कुछ विचार रखता है वह तो डटकर उनका प्रतिवाद करेगा और उनको तथा जिस मार्ग का वे समर्थन करते हैं उसको भी कभी भी अच्छा नहीं कहेगा। एवं सन्मार्ग को उपादेय साबित करके अपने आपकी भांति औरों को भी सन्मार्ग के ऊपर चलने की प्रेरणा करेगा, जिससे कि हर एक आदमी उसे अपना कर अपना २ कल्याण करले सुखी बन जावे; फिर भी दुर्मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते रहना साधारण बात नहीं है। एतावता उस पर चलते २ अगर कोई स्खलित हो जावे तो सयाने आदमी का क्या कर्तव्य होना चाहिये सो सुनिये —

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयां।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनं ॥१५॥

हम देखते हैं कि बुरे कामों की तरफ मनुष्य की सहज भाव से प्रवृत्ति होती है परन्तु समझाते समझाते भी भली बात की ओर झुकना इसके लिये दुश्वार होता है बच्चे को उसका पिता पाठशाला जाकर पढ़ने के लिये कहा करता

है फिर भी वह पढ़ने की तरफ़ ध्यान नहीं देता, खेलने को ही उसका मन ललचाता है वह लुक छिपकर भी खेलना चाहता है। यही हर मनुष्य का हाल है। तदेव—

जनोऽयं सहजेनैव दुर्मार्गमवगाहते ।
न प्रयत्नशतेनापि सन्मार्गमधिगच्छति ॥

प्रथम तो भली बात को कोई सुनना ही पसन्द नहीं करता अगर किसी ने सुन भी लिया तो फिर उस पर चलना वह अपने आपके लिये उतना ही कठिन समझता है जितना सांप के लिए सीधा चलना। अगर कहीं किसी ने चलना भी स्वीकार कर लिया तो उसे अन्त तक उसी रूप में निभा देना तो वहुत ही कठिन होता है।

अगर कोई अपने किये हुए सङ्कल्प को अन्त तक निभाने का भी प्रयास करता है तो दुनियांदारी के लोग उससे स्पर्द्धा करके उसे अपने सङ्कल्प पर डटे रहने के लिए लाचार बनाने की चेष्टा करते हैं उसे हर तरह से बाध्य किया करते हैं ताकि वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाय और उसकी नुक्ताचीनी करने का मौका प्राप्त हो। जैसे हवा के झकोरों को पाकर गाछ को हिलना ही पड़ता है उसी प्रकार दुःसंसर्गों में पड़ कर सभ्य पुरुष भी कहीं विचलित हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है, परन्तु दुर्मना

लोग उसका निमित्त लेकर सन्मार्ग की ही बुराई करने लग जाते हैं जैसे कोई लड़का बदमासी करता है तो लोग उसके माता पिता को कोसा करते हैं। अस्तु।

समझदार आदमी खुद तो किसी की बुराई करना जानता ही नहीं, वह अपने आपकी बनिस्पत और सबों को बहुत अच्छे मानता है। वह हर समय अपने अवगुणों की तरफ देखा करता है दूसरों के अवगुण की ओर उसकी निगाह बिलकुल जाती ही नहीं, हां दूसरे में अगर कोई गुण होता है तो उसे ग्रहण करने के लिए वह हर समय लालायित रहता है। एवं वह दूसरे की बुराई को अपने दो कानों से सुनना भी नहीं चाहता, वह मानता है कि दूसरे की बुराई करने वाला और सुनने वाला ही बुरा होता है अतः उसके सामने अगर दूसरे की बुराई का प्रसङ्ग आता है तो वह उसे बड़ी चतुरता से टाल देता है। मानलो एक गृहस्थ की औरत पीसना लेकर पीसने को बैठी इतने में गाय आकर एक मुंह मार गई औरत बोली चलो अच्छा हुआ इतना पीसना सहज कम हो गया। अतः जल्दी पीसने से फुरसत पाजाऊंगी। वापिस जाते समय उस गाय ने अपने पैरों से खुरचकर गड्ढा कर दिया, औरत बोली चलो यह भी अच्छा हुआ चूला बनाना था अपने आप ही बन गया, मुझे खोदना

नहीं पड़ा। इतने में गाय ने गोबर भी कर दिया, औरत ने कहा यह और भी अच्छा हुआ अङ्गण लीपना था सहज लीपा जावेगा मतलब यह कि गाय ने जो भी किया औरत ने उसको सुलटा घर लिया। इसी प्रकार हरेक सज्जन को चाहिये कि दूसरे के अवगुणों को भी गुण रूप से ग्रहण करे। समालोचकों के लिए बोलने का मौका न आने दे एवं खुद ऐसा चलन बनावे कि समालोचकों की दृष्टि में बिलकुल न खटके ताकि हर आदमी सहज सन्मार्ग से चलने लगे।

दर्शनाच्चरणाद्वापिचलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैःस्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥

देखो इस दुनिया में आकर कोई भी आदमी अपना काम बिना किसी दूसरे की सहायता के नहीं कर सकता। क्या लौकिक और धार्मिक, सभी तरह के कार्यों में हमें किसी न किसी रूप में दूसरे से मदद लेना ही पड़ती है और तो क्या अकेली अंगुली से चुटकी भी नहीं बजती। एवं हमें जब दूसरे से मदद लेने की दरकार पड़ती है तो उसका यह स्वयं अर्थ निकलता है कि हम भी दूसरे की मदद करना सीखें। दूसरे की मदद करना ही अपने आपके लिए मदद प्राप्त करने का मार्ग है क्योंकि जब हम दूसरे की कोई परवाह नहीं करते तो फिर वह

भी हमारी परवाह क्यों करेगा। सभी अपनी २ तान में मस्त रहेंगे तो फिर कैसे किसी का कोई भी काम होगा इसलिए हम सब का सब से पहिले कर्तव्य यह हो जाता है कि हम सब आपस में एक दूसरे से मिलकर चलें। समझ लो कि हाथ की पांचों अङ्गुलियों में परस्पर मन मुटाव होगया। अंगुष्ठ बोला मैं सब से बड़ा हूं और तर्जनी कहने लगी मै बड़ी हूं इसीप्रकार सब अपने आपको मानने लगी। हाईकोर्ट में दावा पेस हुआ। हाकिम साहब ने सबको अपने २ सबूत पेस करने को कहा। अंगुष्ठ ने कहा कि देखो साहब! मैं देखने में तो सबसे छोटा दीख पड़ता हूं परन्तु बाजार में जाने पर मेरी जो इज्जत होती है वह इन सब में नाम को भी नही है। इस बात को आप भी जानते हो सर्व साधारण अपढ़ लोगों को जब भी कोइ रुपया पैसा मिलता है वह मेरी सही बिना नहीं मिल सकता। तर्जनी ने कहा यह तो ठीक है किन्तु जब किसी को भी रास्ता बताना होता है तब तो मैं ही बताती हूं इसे कौन पूछता है। मध्यमा से पूछा गया तो बोली कि महरबान मैं तो प्रत्यक्ष ही सब से बड़ी दीख रही हूं फिर मैं आपसे क्या कहूं। अनामिका बोली कि जब कभी किसी के तिलक लगाया जाता है तो मैं ही तो करती हूं ये सब एक तरफ बैठे रहते हैं। अन्त में

कनिष्ठा ने कहा कि महाशय ! मैं यद्यपि सबसे छोटी हूं परन्तु जब कभी लोगों पर कोई भी आपत्ति आती है, लाठी वगैरह का वार होता है तो मैं इन भाई और बहनों को अपने पीछे रखकर अपना कचूमर निकालने को सब के आगे आ खड़ी होती हूं अर्थात् अपनी हिफाजत के लिये जब हाथ ऊंचा करता है तो कनिष्ठा को ऊपर की ओर करके किया करता है अथवा किसी के मुक्का मारता है तो कनिष्ठा को नीचे लेकर मारता है दोनों ही हालतों में जो कुछ चोट आती है कनिष्ठा पर ही आती है। जज साहब ने सबकी बातें ध्यान पूर्वक सुनीं, परन्तु कनिष्ठा की बात उन्हें विशेष पसन्द आई और आनी ही चाहिये; क्योंकि उसने अपने जीवन को अपने बहन भाइयों की सेवा में अर्पण कर देना ही अपना कर्तव्य बना रक्खा है जो कि एक सर्वोत्तम गुण है। सेवा धर्मोऽस्तिबहुगहनोयोगिना-मप्यगम्यः अर्थात् परोपकारार्थ अपना जीवन अर्पण करना सबसे बड़ा गुण या धर्म है जिसका कि मिलना योगि-राजों को भी दुर्लभ होता है इसीलिए खुश होकर उन्होंने उसे मुद्रिका इनाम में दी, जिसको कि लोग पहना करते हैं। अन्त में उन्होंने सबसे कहा कि भाई आप लोग अपने २ काम में अपनी खाशियत रखते हो यह बात

ठीक है पर फिर भी आप लोगों का एक के बिना दूसरे का काम कैसे चल सकता है। एवं जब आप लोग थरिया में से गास उठाते हो या और कोई चीज पकड़ते हो, सब मिलकर और बराबर होकर ही तो पकड़ते हो यह भी तो देखो। इसलिये सब मिलकर रहना ही ठीक है। लोटा यद्यपि रस्से की अपेक्षा कीमती होता है फिर भी कुए में से पानी निकालना हो तो रस्सा ही काम देता है उसके बिना लोटा अकेला कुछ नहीं कर सकता। मतलब यही कि एकका काम दूसरे की मदद से ही चला करता है इसलिए समझदार को चाहिए कि वह अपनी तरह दूसरों का भी ख्याल रक्खे। कहीं ऐसा न हो कि आजीविका की कमी से या रोग वगैरह से अथवा और किसी कारण से घबराकर कोई भी भाई अपने सदाचार से या समुचित विश्वास से भ्रष्ट होकर पतित हो जावे। गिरते हुये को सहारा देकर थामना और जो टोकर खाकर गिर भी पड़ा हो उसे उठाकर फिर से सावधान कर देना ही होशियारी है, न कि उसे कोसना। भूल होना कोई बड़ी बात नहीं, भूलना मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है। अगर कोई भूल रहा है या भूल गया है और हम जानते हैं तो प्रेमपूर्वक मीठे शब्दों में उसे समझावे, उसकी भूल उसे सुझावे और रास्ते पर लावे, वरना हमारी समझदारी

क्या काम की, साथी का साथ तो वही जो आपत्ति के समय काम दे।

स्वयूथ्यान् प्रतिसद्भाव—सनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

अपने साथियों के साथ बहानाबाजी से रहित होकर सच्चे दिल से प्रेम करना और समुचित व्यवहार के द्वारा यह दिखलाते रहना कि हम आपके ही हैं बस इसीका नाम वात्सल्य गुण है और यह हर एक समझदार में होना ही चाहिये। संसार में हम देखते हैं कि जो काम और किसी भी उपाय से सिद्ध नहीं होते वे प्रेम के द्वारा सहज में सिद्ध कर लिये जाते हैं। किसी को भी बस में करने का अगर कोई अमोघ उपाय है तो एक परस्पर का प्रेम है। मजबूत से मजबूत लोहे की सांकल को मनुष्य तोड़ सकता है किन्तु प्रेम के बन्धन को नहीं तोड़ सकता। तदेव—

सर्वेषु बन्धनेष्वस्ति दृढं प्रेमैव बन्धनं।
काष्ठसंछेदको भृङ्गः पद्मबन्धं भिनत्ति न ॥

देखो जो भौंरा कठिन से कठिन काठ में भी छेद कर डालता है उसे भी फोड़कर बाहर निकल आता है वह कमल के अन्दर पड़ा पड़ा अपने प्राण तक दे देता है

उसे तोड़ कर बाहर नहीं निकल पाता। इसमें क्या कारण है ? अगर है तो एक यही कि उसका उससे प्रेम है इसलिये उसे ज़रा भी तकलीफ न देकर भौंरा अपने प्राण दे देता है। बस अगर हम किसी से भी अपना काम निकालना चाहें या उसे अपना बनाना चाहें तो उसके साथ में सच्चे प्रेम का वर्ताव करें, न कि उसमें बनावटीपन हो अन्यथा तो हम मफल नहीं होंगे, फेल हो जायेंगे। सच्चा और झूठा प्रेम छिपाये नहीं छिपता, कहीं हम ऐसा न सोचलें कि प्रेम तो मन का धर्म है जो कि हमारे मन में होता है उसे दूसरा कैसे परख सकता है ? क्योंकि मन जिस प्रकार हमारे पास है उसी प्रकार दूसरे के पास भी तो है जिसमें कि परस्पर बेतार का तार लगा हुआ रहता है। अधिकतर ऐसा होते हुए देखा गया है कि जब हम अपने प्रेमी को याद करते हैं तो एकाएक वह हमारे सामने आ उपस्थित होता है हम कह दिया करते हैं कि वाह जनाब अभी आपकी बहुत बड़ी उम्र है हमने आपको याद किया ही था कि आप आगये। इसी प्रकार कभी २ बिना किसी बात पित्तादि प्रकोप के ही हम लोगों को हिचकी चलने लग जाती है हम सोचते हैं कोई स्नेही याद कर रहा होगा इत्यादि। इसके अलावा हमारे मन का सम्बन्ध ही हमारी बाह्य चेष्टाओं से होता है जिसके

साथ हमारा प्रेम होगा हमारे बोल चाल में अवश्य झलकेगा एवं हमारे नेत्रों में तो उसका प्रतिबिम्ब अवश्य ही आजावेगा जैसा कि हमारे वृद्ध पुरुष कहते आ रहे हैं कि 'पाँव पिछाणे मोचडी, नयन पिछाणे नेह।' अर्थात् अन्धकार में भी हम अपनी जूतियों को अपने पैरों में पहन कर पहिचान लेते हैं। अपनी जूतियां अपने पैरों में जैसो ठीक बैठती हैं वैसी दूसरे की नहीं बैठती, उसी प्रकार सामने वाले का हमारे प्रति प्रेम है या नहीं यह हम उसके नेत्रों की तरफ गौर के साथ देख कर जान सकते हैं। मतलब यही कि सच्चा और झूठा प्रेम छिपा नहीं रहता, इसके लिये मैं अपने पाठकों को एक बात बताता हूं। एक समय की बात है कि दो औरतें थीं जो परस्पर में देवरानी और जिठानी लगती थीं। देवरानी के एक बच्चा हुआ और जिठानी के कोई बच्चा नहीं था और न होने की कोई आशा ही थी, अतः उसने सोचा कि इस देवरानी के बच्चे को हथियाना चाहिये। वह उस बच्चे के साथ प्रेम का व्यवहार करने लगी, उसे खाने पीने के लिये देने लगी और अपने पास रखने लगी। देवरानी बिचारी भोले स्वभाव की थी उसने सोचा क्या हर्ज है इनके पास रहा तो और मेरे पास रहा तो कोई बात नहीं एक ही बात है। थोड़े दिन में जब वह बच्चा अपनी मां

को भूल गया और उसे ही माँ कहने लग गया तो उसने किसी निमित्त को लेकर अपनी देवरानी से लड़ाई ठान ली, परस्पर में बोलना तक बन्द हो गया। देवरानी ने सोचा अब व्यर्थ ही इनके पास क्यों छोड़ा जाय ? बच्चे से बोली गीगा आजा बेटा इधर आजा बढ़िया जी तो अब अपने से जुदा हो गया। इतने में जिठानी तमक कर बोली कि क्या कहा क्या यह बच्चा तुम्हारा है वाह री वाह यह कैसे होगा इसको बड़े भाग्य से पैदा किया है और बड़ा मुश्किल से पाला है बड़ा किया है इसे आज तुझे कैसे दे दूं ? बिचारी देवरानी झेंप गई हारकर सरकार में दरख्वास्त पेश की। गवाह कोई भी नहीं, बच्चे से पूछा जाता है तो वह उसे (जिठानी को) ही मां कहता है। राजा परेशान हुआ क्या करे। परन्तु मन्त्री कुछ चतुर था सोच समझकर एक युक्ति निकाली और बोला कि इन दोनों का झगड़ा यों नक्की नहीं होगा एक काम किया जाय इस बच्चे के दो भाग किये जायं और दोनों को एक २ भाग दे दिया जाय इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। जल्लाद को बुलवाया गया, बच्चे के दो भाग किये ही जाने वाले थे कि इतने में देवरानी हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर बोली कि नहीं महाराज ऐसा तो मत करो बच्चा इन्हीं को दे दो मैं तो इसे देखकर ही जीती रहूंगी।

तब जिठानी बोलती है तमककर कि–हूं बच्चे के दो टुकड़े होने लगे तब अब बोली है कि यह इसका ही है इसे दे दो पहले ही क्यों नहीं कह दिया। राजा समझ गया कि बच्चा इस बदमास का नहीं है बल्कि बिचारी उस छोटी का है अर्थात् माता के सहज प्रेम ने बच्चे के मरने का नाम सुनना भी पसन्द नहीं किया। बस इसी प्रकार सज्जन आदमी का भी प्राणी मात्र से सहज स्वाभाविक प्रेम होता है वह किसी भी जीव को कभी भी दुःखी देखना नहीं चाहता, दूसरे को दुःख में पड़ा देख कर वह उसके दुःख को अपने ऊपर झेल लेता है वह अपने दुःखमें शीतल जलमें घृत के समान दृढ़ बनकर रहता है। परन्तु दूसरे के ऊपर होने वाली विघ्न बाधा को देखकर उसके सन्ताप को पाकर झट ही पिघल जाया करता है। हां अगर वह किसी गुणवान शीलवान को अपने से विशेष ज्ञानी को देखता है तो बड़ा खुश होता है। जैसे मेघ को पाकर मोर या चन्द्र को देखकर चकोर। किन्तु किसी भी रोगी दुःखी दरिद्र आदमी को देखकर उसकी मदद करने को जी जान से जुट जाया करता है और उसकी इस रोज मर्रा की रफ्तार में अगर कोई बाधक होता है तो उसे असमझ समझ कर प्रेम पूर्वक समझाने की चेष्टा करता है।

विरोधी को पाकर भी चिड़ जाना उसका काम नहीं होता एवं वह इस कोमल बर्ताव से एक न एक दिन उस विरोधी को भी अपना बनाकर रहता है। तदेव—

सत्त्वेषुमैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु तदर्तितोदं।
माध्यस्थ्यमेवं विपरीतगानामाप्नोति शिष्टःप्रचरे निदानात् ॥१॥

मतलब यह कि भला आदमी दुनियां को अपनाते हुये और अपने से प्रतिकूल चलने वाले को भी रास्ता सुझाते हुए प्रसन्नता पूर्वक चलता है एवं विश्वभर पर अपनी छाप लगाता है सो हीं कहते हैं—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्य-प्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

जयतीतिजिनः जो विजयी हो, जो जीतता हो वह जिन कहलाता है। जीतता हो किसको ? किसी दूसरे को नहीं, क्योंकि जो दूसरे किसी को जीतने वाला होता है वह किसी के द्वारा जीता भी जाता है उसे भी जीतने वाला कोई होता है। जैसे कोई एक राजा अपने से कमजोर राजा को जीतकर अपने काबू में कर लेता है परन्तु वह भी अपने से जबरदस्त राजा के अधीन होता है उसकी आज्ञा को उसे भी मानना पड़ता है। शशे को हड़पने वाला शेर होता है किन्तु शेर को भी सवा शेर

मिल जाया करता है। अथवा थोड़ी देर के लिए मान लिया जावे कि किसी ने पृथ्वी मण्डल के संपूर्ण राजाओं को अपना आज्ञाकारी बना लिया हो जिसके बाहुबल के आगे टिकने के लिये कोई भी समर्थ न रहा हो, पर फिर भी वह जिन नहीं होता क्योंकि बड़े २ बलवानों के छक्के छुड़ा देने वाला वह महाबल भी एक अबला के चुङ्गल में फंसकर पानी २ हो जाता है। बड़े बड़े शूरवीरों के लोहमयी बाणों से जिसका बक्तर नहीं भिद पाया, उसका वही बक्तर अबला के कटाक्ष बाणों से चूरमूर होता हुआ देखा जाता है। रामायण में हम सुनते हैं कि रावण बड़ा बलवान था, जिसने इन्द्र को भी अपने घर का पानी भरने वाला बना लिया था किन्तु सीता के वश में होकर अन्त में उसी की वह बुरी दशा हुई जिसको सभी पाठक जानते हैं।

मतलब यह कि उसने दुनियां के लोगों को जरूर बस में किया परन्तु अपने आपको ही अपने वश में नहीं रक्खा, अपने मन को काबू में नहीं किया, अतः वह मनसिज—काम के वश में हो गया। जिस काम के वश में सर्व साधारण मनुष्यों की बात ही क्या बड़े २ देव दानव भी उसके वश में पड़े हुये हैं और जो काम के वश में होता है उसे दुनियां के वश होना पड़ता है। इसलिए

दुनियाँ को जीतने के लिए काम को जीतना जरूरी है और जिसने काम को जीत लिया वही वस्तुतः जिन होता है सर्वविजेता कहलाने का अधिकारी है मारजिल्लोकजिज्जिनः ऐसा अमरकोष में भी कहा गया है। और यह है भी ठीक, जिसने काम को जीत लिया, जिसको किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रही उसके हर्ष विषाद मद-मत्सर वगैरह सभी तरह के मानसिक विकार दूर हो गये फिर उसका यमराज भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता जैसा कि कहा है—

जितमदहर्षद्वेषो जितमोहपरीषहो जितकषायः।
जितजन्ममरणरोगो जितमात्सर्यो जयेत् स जिनः॥

अर्थात् जो हर्षविषादादि सभी तरह के मानसिक-विकार भावों से सर्वथा दूर हो वही जिन है और उन जिन भगवान का यही आदेश है कि हरेक प्राणी हर मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों को काबू में करे। परन्तु ये दुनियादारी के लोग अपनी बेसमझी के कारण स्वार्थ में पड़कर एकान्त से इन्द्रियों के दास बने हुये हैं। अपने जरा से स्वार्थ के लिये दूसरे का बिगाड करने को तत्पर हो जाते हैं, उचित अनुचित का कुछ भी विचार न कर अन्याय करते हैं, झूठ बोलते हैं, पाखण्ड करते हैं, सामने वाले को धोके में डालने की पूर्ण चेष्टा करते हैं जिससे

खुद दुःख पाते हैं और दूसरों के लिये भी दुःखका साधन खड़ा कर देते हैं । यह सब इनकी बेसमझी का ही परिणाम है । अतः समझदार को चाहिये कि वह अपने मनमें उनको उनकी बुरी आदत से हटाकर सन्मार्ग पर लगानेका विचार करे, किस उपाय से ये लोग ठीक राह पर आवें उसे सोचे । मिठे वचनों में उन्हे समझावे और खुद अपने आपको ऐसी प्रवृत्ति बनावे जिसे आदर्श मान कर लोग उसका अनुकरण करने लग जावें । सबसे पहली बात तो यही है कि जिस राहपर हम लोगों को देखना या चलना चाहते हैं खुद उसपर चले । परन्तु हम देखते हैं कि आज अच्छे अच्छे समझदार कहलाने वाले लोग भी इसके विपरीत हैं । लोगों को भले भले सुन्दर २ व्याख्यान देते हैं परन्तु उनकी खुदकी आदत व्याख्यानों को छूती भी नहीं उनपर चलना तो बहुत बड़ी बात है । एक कवि देखो क्या कहते हैं:—

पण्डित और मसालची दोनों एकहि राह ।
औरोंको दे चानणा आप अन्धेरे माह ॥

लोग रात्रि में किसी जलूस वगैरह में चलते हैं तो उनके आगे एक आदमी अपने माथे के उपर गेसका हण्डा लिये चला करता है जिससे उसके चौतरफ के लोगों को तो उससे प्रकाश मिलता है परन्तु खुदके ऊपर

अन्धकार ही बना रहता है। बस, यही हाल आज हमलोगों का भी है, दूसरों को हम अच्छे २ उपदेश देना जानते हैं किन्तु खुद कुछ नहीं करना चाहते अतः फल कुछ नहीं होता, प्रत्युत हमें चाहिये कि कहें कम और करें अधिक तो लोग अवश्य उसका अनुकरण करेंगे और तभी सच्ची प्रभावना होगी। जिस मार्ग पर हम चलना चाहते हैं एवं औरों को चलाना चाहते हैं उसके लिये हमें उपर्युक्त आठों बातों को ध्यान में रखना होगा तभी हम कुछ कर सकेंगे। अब उन बातों में कौनकौन सी बातमें कौन आदमी पुरातन समय में प्रसिद्ध हुआ सो बताते हैं —

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतीस्मृता ।
उद्दायन स्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥१६॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्चवज्रनामाच शेषयो र्लक्ष्यतां गतौ ॥२०॥

इन लोगों की जीवनी के विषय में पाठक परिचय प्राप्त करना चाहते हों तो पुरातन इतिहास ग्रन्थों का अवलोकन करें। हम यहां उसका उल्लेख करके ग्रन्थ का कलेवर बढाना नहीं चाहते। सिर्फ इतना ही बता देना चाहते हैं कि इन इन व्यक्तियों का स्मरण रखते हुये हम लोग भी उसी प्रकार उन उन कार्यों में तत्पर हो जावें; क्योंकि बिना तत्परता के हम अपने उत्तरदायित्व से

उऋण नही बन सकते और न हमें उनका यथेष्ट फल ही प्राप्त हो सकता है सो ही बताते हैं:—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिं
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥२१॥

दर्शन यद्यपि देखने का नाम है किन्तु यहाँ अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रसङ्ग है इसलिये विश्वास, भरोसा मत या मजहब अर्थ लेना चाहिये जैसा कि हम पहले भी लिख आये हैं। एवं उसको अपनाने का उद्देश्य भी हर एक आस्तिकवादी यही मानते हैं कि इस संसार में हमें जो जन्म मरण का दुःख उठाना पड़ रहा है वह नष्ट हो जाय एवं वास्तविक सुख या शान्ति प्राप्त हो। परन्तु याद रक्खो कि हमें हमारा मत या दर्शन तभी अपने ध्येय तक पहुंचाने में सफल होगा जबकि हम उसके उपर्युक्त आठों अङ्गों को पूर्णतया सुरक्षित रक्खें। एक विषहरण मन्त्रों के जितने भी अक्षर या मात्रायें हैं उनमें से अगर एक भी कम हो गया तो क्या वह मन्त्र हमारे जहर को दूर कर सकेगा ? नहीं कभी नहीं। उसी प्रकार किसी भी अङ्गके बारे में हमने लापरवाही की और उसे भुला दिया तो समझ लो उस अङ्ग के बिना वह विकलाङ्ग होगया फिर वह अपना काम किस प्रकार करेगा। अथवा हाथ पांव शिर वगैरह मनुष्य के आठ अङ्ग माने गये हैं उसी

प्रकार दर्शन के भी ये अङ्ग हैं। मनुष्य का जौनसाभी अङ्ग सड़ जायगा या टूट जायगा तो वह उसके बिना विकलाङ्ग हो जायगा और अपना पूरा काम नहीं कर पायगा। उसी प्रकार दर्शन भी अपने इन अंगों में से एक से भी हीन होगा तो विकलाङ्ग होने के कारण अपना काम ठीक पूरी तौर पर नहीं कर सकेगा और इसीलिए हमारे बुजुर्गों ने इनको अंग कहा है। जिनके कि होने से वह हमारा मन हमें पूरा काम दे सकता है फिरभी हम उसके विषय में किस प्रकार भूल खाते हैं उसी को बताते हैं—

आपगासागरस्नानमुच्चय: सिकताश्मनां।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

उचित अनुचित का विचार किये बिना, नफा नुकसान सोचे बिना ही लोगों की देखादेखी जो काम किया जाता है उसे लोकमूढ़ता कहते हैं। वह कितने ही तरह की होती है जिसमें कि कुछ के नाम श्लोक में दिये हैं। जिनमें सबसे पहला नम्बर गङ्गा स्नान या समुद्र स्नान का है, लोगों में ऐसी रूढ़ी पड़ी हुई है जिसके बल पर वे समझते हैं कि गङ्गा में स्नान कर लेने मात्र से हमारे पाप धुल जावेंगे और हमारा शरीर पुनीत पावन बन जायगा। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि पाप और पुण्य

का सम्बन्ध तो आत्मा से है, आत्मा अमूर्तिक है जिस तक जल कभी पहुंचता भी नहीं जैसा कि—गीता में लिखा हुआ है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नैनमापः क्लेदयन्ति शोषयन्ति न वायवः॥

यह जले नहीं अगनी में, भीगे न कभी पानी में।
सूखे न पवन के द्वारा, यह आत्मा हमारा॥

अगर शरीर को शुद्ध हुआ माना जाय सो भी ठीक नहीं क्योंकि शरीर तो स्वभाव से ही अशुद्ध है, मल मूत्रादि का भण्डार है। मल के बने हुये घड़े को कितना भी क्यों न धोया जाय तो भी वह कैसे निर्मल हो सकता है। यही हाल इस शरीर का है यह निरन्तर अपने नौ रास्तों द्वारा मल ही मल को उगलता रहता है ताकि जो भी चीज इससे भिड़ती है वही अशुद्ध हो जाती है। किंच इसी तरह पानी से धुलने पर अगर शुद्धि आ जाती है तो फिर मैण्डक और मछलियाँ वगैरह तो हर समय उस गंगा के जल में ही पड़ी रहती हैं वे अथवा उनकी आत्मा भी पवित्र कही जानी चाहिये।

शङ्का—तो फिर देव पूजादिक के पूर्व में जो स्नान किया जाता है क्या वह सर्वथा बेकार है, नहीं करना चाहिये क्या?

उत्तर—जल के द्वारा स्नान करने पर शरीर के ऊपर होने वाला बाहिरी मल या संसर्गज दोष हट जाता है जैसे मान लो कि कादे में फसने पर हमारे पैर कादे से लिप गये या छींटें उछल कर हमारे शरीर पर लग गये उन्हें जल से धोकर साफ कर लिया जाता है।

दूसरी बात यह है कि जल के द्वारा स्नान करने पर हमारे शरीर के रोमकूप थोड़ी देर के लिये साफ होकर खुल जाते हैं। अतः हमारे मन में एक प्रकार की स्फूर्ति होती है। जिससे उतनी देर के लिये हम जो कोई भी कार्य करते हैं वह दृढ़ता के साथ किया जा सकता है। बस इतना ही स्नान करने का प्रयोजन है। यह आयुर्वेद सिद्धान्त है जिस पर ख्याल रखकर स्वास्थ्य व्यवस्था के कायल लोग जिस किसी भी उचित जलाशय के जल से स्नान कर सकते हैं फिर भी शरीर तो वस्तुतः पवित्र होता नहीं है। स्नानानन्तर भी इसी शरीर पर लगाये हुये चन्दन पुष्पादिक अपवित्र होते हुये देखे जाते हैं अतः स्नान के द्वारा शरीर की या आत्मा की शुद्धि मानना बिल्कुल भूलभरा है।

दूसरा नम्बर बालू रेत वगैरह का ढेर करने का है। जैसे मृतक की मृत्यु के तीसरे रोज जाकर श्मसान में

उसकी भस्म को इकट्ठा किया जाता है और उसमें धर्म समझा जाता है। यह एक लोक रूढि है। परन्तु भला सोचो तो सही कि उस भस्म के बटोरने में कौनसा फायदा है और न बटोरें तो क्या नुकसान हो जाता है। कुछ नहीं किन्तु देखादेखी एक चाल चल पड़ी है जिस का छोड़ देना सर्वसाधारण लोगों के लिये अशक्य सा हो रहा है।

इसी प्रकार पर्वत से पड़कर मरना या अग्नि में जल कर अपनी जान दे देना ऐसी २ बातों में भी लोग धर्म मान बैठे हैं।

शङ्का—क्यों इसमें क्या बात हुई शरीर से मोह नहीं रखना तो सबसे पहला धर्माचरण बतलाया गया है जो कि उपर्युक्त काम करने वाले में पाया जाता है।

उत्तर—तब तो फिर अपने गले में अंगुली डालकर या जहर खाकर मर जाना भी धर्म हो जायगा परन्तु इस प्रकार से इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को बेकार खो देना तो आत्मघात है जो कि सबसे पहला पाप है। निर्मोहता तो उसका नाम है कि इस शरीर को पाकर कुछ भी भलाई का कार्य करना, इसे परोपकारार्थ अर्पण कर देना दीन दुःखियों की सेवा करना और उसमें आने वाली-

विघ्न बाधाओं को सन्तोष के साथ सहन करते हुये चले जाना, न कि इस शरीर को बरबाद कर देना। शरीर को बेहया रूप से खो देना बिगाड़ देना तो इसके साथ द्वेष करना हुवा, वैर करना हुवा। वैर करना तो बुरी बात है यह सभी जानते हैं। किन्तु अज्ञान या बेसमझी एक ऐसी चीज है जिससे बुरी बात को भी ठीक समझ लिया जाता है और उसके पीछे दुनियाँ दौड़ती है। एक यह ही नहीं और भी ऐसी अनेकों बातें हैं जिनमें सार कुछ नहीं किन्तु लोग उन्हें बड़े चाव से करते हैं। जैसे मृतक श्राद्ध का करना और उसके द्वारा अपने मृतक बुजुर्ग का सद्गति होना, मानना क्योंकि हम देखते हैं कि हमारा खाया हुआ हमारे पास में बैठे आदमी के पेट में नहीं जाता तो फिर ब्राह्मण वगैरह को दिया हुआ भोजन हमारे बुजुर्गों के पेट में पहुंच जाय यह तो बहुत दूर की बात है उनका तो पता भी नहीं होता कि कहां और कौन सी गति में जाकर पैदा हुये हैं किन्तु गतानुगतिकता में पड़कर लोग कुछ भी विचार नहीं करते। इसके बारे में मैं पाठकों को एकबात लिखकर बताता हूं—शीतलाष्टमी के रोज औरतें पूवा पापड़ी ले जाकर कुम्भकार के यहां शीतला के वाहन की पूजा किया करती हैं। एक बाई जी के स्वामी जो कि पढ़े लिखे एवं नये खयाल के थे वे

अपनी अर्द्धांङ्गिनी से बोले देवी जी आते समय उस गधे की गर्दन के दो बाल नोचकर लेते आना मुझे उनकी बड़ी जरूरत है। उसने अपने स्वामी के कहने के अनुसार वैसा ही किया; कुम्भकार के यहां अपनी सहेलियों के साथ गई वहां जो करना था सो किया और आते समय उसकी गर्दन पर से कुछ बाल नोच लिये यह देखकर साथ की औरतों ने भी उसके बाल नोच नोचकर लेना शुरू कर दिया, उन्होंने सोचा कि बाबूजी की औरत ने जब इस गधे के बाल लिये हैं तो यह भी कोई रिवाज होगा। घर पर आकर के उसने जब वे बाल बाबूजी को दिये तो बाबूजी ने पूछा कि कहो जब तुमने ये बाल लिये तो वहां और क्या हुआ। औरत ने कहा वहाँ कुछ हुआ नहीं किन्तु मैंने लिये तो वहां पर होने वाली सभी औरतों ने भी ले लिये, बिचारा गदहा बिना बालों का हो गया। बाबू जी ने कहा जाओ अपनी पड़ोसिन से पूछो कि वह उन बालों का क्या करेगी। पूछने पर जवाब मिला हम क्या जानें आपने लिए तो हम लोगों ने भी ले लिए। कहने का मतलब यही कि दुनियां में होने वाले करीब २ सभी कामों का यही हाल है, एक को देख कर दूसरा भी वैसा ही करने लग जाता है किन्तु तत्व कुछ नहीं होता, इसी का नाम लोकमूढ़ता है। समझदार

आदमी ऐसे कार्यों को कभी नहीं करता वह रूढ़िवाद का विरोधी होता है वह जिस कार्य का जिस रूप से करने में जितना उपयोग समझता है उतना ही उसे स्वीकार करता है लकीर का फकीर बनना उसकी आत्म शक्ति से बाहर की चीज है। विचार शून्य सर्व साधारण लोगों की बात जुदी है वे तो जिस प्रकार अपने व्यावहारिक कार्यों में भूलते हैं वैसे ही देवता के स्वरूप के बारे में भी भूल खाते हैं जैसा कि बताते हैं—

वरोपलिप्सयाऽऽशावान्रागद्वेषमलीमसाः
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

दीव्यति आनन्दमनुभवति सदेवः अर्थात् जो हर समय आनन्द मग्न हो उसका नाम देव होता है। संसार भर के सम्पूर्ण पदार्थों को देखते हुए भी किसी को भला और किसी को बुरा मानकर खुशी और रञ्ज हासिल न करता हो किन्तु उस जानकारी से उत्पन्न हुये प्रसन्न भाव को प्राप्त हो वह देव है। किन्तु यह शरीरधारी प्राणी उससे विपरीत है वह इन संसार के पदार्थों में से किसी को बुरा और किसी को भला समझता है। जो पदार्थ इसकी इच्छा के अनुकूल होता है उसे अच्छा मानकर बनाये रखने की और इसके प्रतिकूल प्रतीत होता है उसे

बिगाड़ने, नष्ट करने या दूर हटाने की चेष्टा किया करता है। और जब यह बात इसकी ताकत से बाहर होती है तो किसी की सहायता ढूंढने लगता है एवं जब कोई भी दूसरा रास्ता इसे अपनी इच्छा पूर्ति का नहीं दीखता तो अन्त में यह उसी आशा को लेकर के अपने उपास्य देव के पास पहुंचता है। कहता है हे भगवन् मेरा यह कार्य हो जाय मैं आपके एक छत्र चढ़ाऊंगा, अमुक आदमी मेरे से वैर किये हुये है उसका बिगाड़ हो जाय तो मैं आपका मन्दिर बनवा दूंगा इत्यादि अर्थात् भगवान् को रिश्वत देकर जीना या सुखी होना चाहता है यह नहीं सोचता कि एक भला सा हाकिम ही जब रिश्वत नहीं लिया करता, उसे बुरी बात मानता है तो दुनियाँ भर का हाकिम भगवान् हमारी रिश्वत का भूखा बैठा है। किन्तु इसे यह भी सोचना चाहिए कि भगवान् जिस प्रकार हमारा है उसी प्रकार हमारे दुश्मन का भी तो है और वह हमारा दुश्मन भी रिश्वत देना जानता है अपने उपाय में कौन चूकता है। फिर वह हमारी तरफ-दारी करेगा या उसकी। जिसकी प्रार्थना को न सुना गया वही उसे बुरा कहने लगेगा। परन्तु इसको इतना विचार कहां? यह तो उसे रिश्वत देकर राजी करना चाहता है, रागी द्वेषी ठहराने की चेष्टा करता है, यह

कितनी मोटी भूल है। क्योंकि प्रथम तो भगवान् रागी द्वेषी है नहीं, जिसको कि यह अपने विचार में रागी द्वेषी मानकर उससे अपना वाञ्छित वर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दूसरी बात यह कि मानलो भाग्यवश इसकी भावना के अनुसार फल हो गया तब तो ठीक और कहीं उसके विपरीत हुआ तो फिर इसकी श्रद्धा उस पर से बिलकुल हट जावेगी या नहीं।

एक समय की बात है कि हमारे एक मित्र महाशय जो पक्के भगवद्भक्त थे जो कहा करते थे कि भगवद्भक्ति से बड़े से बड़ा काम भी निश्चय से विचारा हुआ पूर्ण हो जाता है। उन्हें किसी झूठे अभियोग के कारण कैद जाने का मौका आगया, इस पर उन्होंने इक्कीस दिन का अनुष्ठान लेकर जी जान से भगवान की पूजा की, मन्त्र जपा, किन्तु पूर्व कृत पापका उदय प्रबल था, फल कुछ नहीं हुआ, कारागार की शरण लेनी ही पड़ी। परिणाम यह निकला कि उस दिन से उनकी श्रद्धा बिलकुल जाती रही और पक्के नास्तिक हो गये।

शङ्का—तो फिर क्या दुःख सङ्कट में भगवान का स्मरण करना गलत बात है ?

उत्तर—नहीं, भगवान को स्मरण करना बुरी बात

कसे हो सकती है उनका स्मरण तो छद्मस्थ आत्मा के लिए हर समय उपयोगी है फिर वह दुःख के समय तो अवश्य होना ही चाहिए। किन्तु समझदार आदमी जो भगवान् का स्मरण करता है वह उन्हें आदर्श मानकर करता है। वह विचारता है कि देखो भगवान ने इस सङ्कटमय संसार को अपने आत्म बल के द्वारा किस तरह से तय किया था किस प्रकार से वे इसके उस पार पहुंचे थे। भगवान् की आत्मा भी एक आत्मा थी, मैं भी आत्मा हूं। फिर मुझे इस साधारण सी आपत्ति से घबराने की जरूरत क्या है मेरी आत्मा तो सच्चिदानन्द है उसका यह आपत्ति बिगाड़ ही क्या शक्ति है, कुछ नहीं। बस इसप्रकार के विचार से उसकी आत्मा में एक प्रकार की स्फूर्ति पैदा होती है जिससे उस पर आई हुई वह आपत्ति प्रत्युत सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। किन्तु दुनियाँ-दारी के आदमी का विचार तो कुछ और ही होता है वह तो मानता है कि मैं इस अनुष्ठान के द्वारा या सेवा पूजा भक्ति के द्वारा भगवान को खुश कर लूं ताकि प्रसन्न होकर वे मेरे विचारे हुए कार्य को सफल करदेंगे।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयंपाखण्डिमोहनं ॥२४॥

संसार में जितने भी पुरुष हमें देखने में आते हैं उन्हें संक्षेप से दो भागों में बाँट सकते हैं—एक साधु लोग और दूसरे असाधु। साधयतिसहजभावं प्राकृतिकवेशंवा स्वीकरोतीति साधुः —जो अपने सहज स्वभाव को अपनाये हुए हो या अविकृत वेश का धारक हो उसे साधु कहते हैं।

हरेक मनुष्य जब माता के उदर से पृथ्वीतलपर अवतार लेता है उस समय इसके पास शरीर मात्र के सिवा और कुछ भी नहीं होता है। मन भी छल कपट वगैरह से रहित करीब २ भद्र होता है किन्तु भूतलपर आकर जब दुनियां के नाटक को देखता है तो धीरे २ वैसा ही वेश आप अपना भी बना लेता है एवं उस वेश के अनुसार ही इसके दिल के विचार भी होते हैं जिनको कि यह कौतुक के रूप में स्वीकार करता है, फिर भी उनमें इसे अशान्तिमय संक्लेश का अनुभव होने लगता है। बस इसी को हम असाधु कोटि में रखते हैं। यह असाधुकोटि का मनुष्य, कमाने खाने और उसी का सामान बटोरने में निरन्तर लगा रहता है इसी के लिये समय-समय पर दूसरों से विरोधकर उनका बिगाड़ भी करना चाहता है। फिर इसे शान्ति

कहाँ ? ऐसा सोचकर जो लोग उपर्युक्त बातों से मुँह मोड़कर ठीक अपनी उसी जन्म समय की अवस्था पर आ पहुंचते हैं, दुनियाँदारी की झंझटबाजी से दूर हो जाते हैं वे साधु होते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इन साधु पुरुषों की प्रतिष्ठा इज्जत देखकर, इनको दुनियाँ के लोगों द्वारा पूजते हुए देखकर अन्तरङ्ग में साधुता न होते हुए भी पूज्यता के प्रलोभन में आकर भी साधु हो जाते हैं। ऐसे लोग साधु संस्था में आकर भी अपनी चित्तवृत्ति और इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण अनेक प्रकार की उच्छृंखल प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के साधन जुटाकर साधु आश्रम को गृहस्थ आश्रम से भी अधिक रंगीला बनाना चाहते हैं। जो कार्य एक अच्छे से गृहस्थ के लिये भी अनुचित माने गये हैं उन्हें भी करने से बाज नहीं आते और वे उनके ऐब लोगों की दृष्टि में खटकने न लग जाएँ इसलिये अनेक प्रकार के बनावटी जादू टोना, यन्त्र, मन्त्र, गण्डा, तावीज बनादेकर जनता को अपना भक्त बनाये रखने की कोशिश करते हैं, इन ऐसे लोगों को पाखण्डी समझना चाहिये। और इन पाखण्डियों का साथ देना, इन्हें भले बताना वगैरह सब पाखण्डी मूढ़ता है अर्थात् बुरी बात

है। क्योंकि ऐसे लोगों का समर्थन करने से मार्ग दूषित हो जाता है और इन्हें प्रोत्साहन मिलता है तो ये और भी घमण्ड में आकर निरर्गल प्रवृत्ति करने लग जा सकते हैं। जब आदमी व्यर्थ के अभिमान को प्राप्त होता है तब फिर योग्यायोग्य का विचार नहीं करता, ओछे आदमी को अभिमान आने के कई तरीके हैं परन्तु जो मुख्य-मुख्य कारण हैं वे नीचे बताये जारहे हैं—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपोवपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

प्रायः हरेक ही आदमी अपने आपकी बुद्धिमता, अपनी कद्र, अपना वंश, अपनी कोम, अपनी ताकत, अपनी धन-दौलत, अपना तप या चलन और अपने शरीर के सुडौलपने को लेकर घमण्ड प्रगट किया करता है। अपने आगे औरों को तुच्छ समझा करता है। भले ही कोई पढ़ा लिखा हो किंवा अपढ़ भी क्यों न हो अपने आपको बड़ा होशियार मानता है।

कहावत है कि दुनियां में डेढ़ अक्कल है जिसमें उसमें से एक अक्कल है तो मेरे में, बाकी सब लोगों में आधी है। पढ़े लिखे को तो रहने दो वह तो समझता ही है कि मैं तालीम पाये हुये हूँ ये और सब

लोग अपढ़ हैं ये बिचारे क्या जानते हैं, मेरी बराबरी क्या कर सकते हैं इत्यादि। परन्तु खुद अपढ़ का भी यही हाल है वह भी सोचा करता है कि भले ही मैं अपढ़ हू फिर भी मैं बातों में बड़े-बड़े पढ़े लिखों को छक्का डालता हूं। इस दुनियाँ में ऐसा तो कोई बिरला ही आदमी देखने को मिलेगा जो समझता होगा कि इस मनुष्य जन्म को पाकर ज्ञान प्राप्त करने का अगर कोई फल होना चाहिये तो यही कि खुद दुर्मार्ग से बचता रहे और इतर भोले भाइयों को भी अच्छे मार्ग पर लगाता रहे। मैंने अगर दो अक्षर प्राप्त किये हैं तो मेरा कर्तव्य हो जाता है कि इसके द्वारा आम जनता की सेवा करूँ। ऐसा नहीं कि इसे प्राप्त करके घमण्ड में चूर हो जाऊं इस में घमण्ड करने के लिये कोई गुञ्जाइश ही नहीं है क्योंकि जो आज कुछ ज्ञान रखता है वही कल पागल बन सकता है और जिसे हम कल अपढ़ होने के कारण अपने से पिछड़ा हुआ देख रहे थे वही आज पढ़ लिखकर हमसे भी एक कदम आगे का चला गया दीख पड़ता है। ज्ञान समुद्र अपार है, जिससे जितना पिया जाता है पीता है। मैं अभी क्या जान पाया हूँ जो जानते हैं वे अपने को जानकार नहीं कहते और उन्हीं की दुनियाँ में इज्जत होती है,

किन्तु वे अपनी इज्जत होती देखकर फूलते नहीं प्रत्युत नम्र बनते हैं, शर्माते हैं। यह भले आदमियों की बात है परन्तु क्षुद्र दिल का आदमी तो अपनी जरा सी पूछ होती देखकर ही फूलकर कुप्पा बन जाता है, कहने लगता है कि मेरे बराबर कौन है भले-भले आदमी मुझे पूछकर कार्य करते हैं। अगर कोई उसे नहीं भी पूछता है तो भी वह अपने मन में ऐसा विचार करता है कि—मैं किसी की चापलूसी नहीं करता सही-सही सुना देता हूं इसलिये मेरे से लोग बचकर चलते हैं कोई हर्ज नहीं मैं किसी से क्या कम हूं। मैं उस वंश में पैदा हुआ हूं उस बाप का बेटा हूं जिसको कि दुनियाँ जानती है। इसी प्रकार प्रायः हरेक आदमी चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो अपने आपको अपने मन में गौरव की दृष्टि से देखा करता है एवं दूसरों को घृणा की निगाह से देखता है। जब साशियों के यहाँ कोई मर जाता है तो उसके कुटुम्बी यह कह कह कर रोया करते हैं कि हे भाई तू परमात्मा की दया से अपनी इसी जाति में पैदा होना क्योंकि अगर तू ब्राह्मण हुआ तो पढ़ने पढ़ाने का कष्ट सहना होगा, क्षत्रिय हुआ तो राजपाट सम्भालना पड़ेगा और वैश्य बना तो रात दिन कारोबार के धन्धे में परेशान होना

पड़ेगा परन्तु अपना इस सांशिकी कौम में किसी भी प्रकार कष्ट नहीं है इत्यादि। मतलब यह कि यह दुनियादारी का जीव अपने जातीय पक्ष को लेकर भले और बुरे सभी तरह के काम निःशङ्क होकर करने लगता है एवं अपने आप का तथा औरों का भी बिगाड़ करने में अग्रसर हो जाता है। हाँ समझदार आदमी जातीयता को कोई महत्व नहीं देता वह सोचता है कि जाति का सम्बन्ध इस शरीर से है जो कि शरीर एक नश्वर चीज है, अतः इसको पाकर परोपकार के कार्यों में या परमार्थ के काम में अर्पण कर सफल बनाना ही बड़प्पन है, जन्म से तो सभी बालक हुआ करते हैं और तो सभी खूबियाँ मनुष्य में क्रम से विकसित हुआ करती हैं। बल और पराक्रम भी आदमी में धीरे-धीरे आता है एवं जवानी के अन्त तक रहता है जिसके कि भरोसे पर यह मनुष्य इस विश्व को अपनी हथेली पर तोलने के लिये आमादा हो जाता है। यह नहीं सोचता कि यह खून की तेजी चन्दरोज की है जो भी अगर तन्दुरुस्त रहे तो, और कहीं कोई बीमारी ने घेर लिया फिर तो खटिया की शरण लेनी पड़ेगी उठकर पानी पीने के लिये भी दूसरे के आधीन होना पड़ेगा, और वृद्ध अवस्था में तो अवश्य ही यह दशा होगी। आँख कान

हाथ और पाँव वगैरह कोई भी अङ्ग अपना ठीक काम नहीं करेगा, चलने लिये लकड़ी का सहारा लेना पड़ेगा। फिर इस तुच्छ और विनाशीक बल का घमण्ड करना किस काम का, समझदार को चाहिये कि बल को पाकर निर्बलों की रक्षा करे, दीन दुखियों की सहायता करे परन्तु फिर भी इस दुनियादारी वाले क्षुद्र दिली मनुष्य की ताकत तो "विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय" इस कहावत के अनुसार औरों को कष्ट पहुंचाने के लिये ही होती है। और अगर थोड़ी सी भी धन देवता की कृपा इसके ऊपर हो गई तब तो कहना ही क्या फिर तो यह समझने लगता है कि दुनियाँ का काम मेरे भरोसे पर ही चलता है।

ज्ञानवृद्धा वयोवृद्धास्तपोवृद्धस्तथैवच।
सर्वेऽपि धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति नित्यशः॥

अर्थात् बड़े-बड़े ज्ञानी लोग, बूढ़े बडेरे लोग, और तो क्या अच्छे-अच्छे तपस्वी भी धनवान की खुशामद किया करते हैं उनके बिना उनका भी काम नहीं चलता इत्यादि सोचकर धन के पीछे जुटा रहता है। परन्तु समझदार आदमी तो उस धन को भी अपने लिये भार रूप समझता है। क्योंकि वह देखता है कि धन के उपार्जन करने, रक्षा करने और बढ़ाने में

हर अवस्था में संक्लेश, भय और सन्ताप वगैरह होते हैं प्रायः सभी तरह के अनर्थों का मूल यह धन ही है यह सोचकर इसे छोड़ना चाहता है किन्तु कर्दम में फसे हुये बूढ़े बैल की भांति सहज में उसे छोड़ नहीं सकता अतः समय पर आ प्राप्त हुये अपने दान पात्रों को हस्तावलम्बन देने वाले मान कर प्रत्युत उनका आभार स्वीकार करता है। जैसा कि एक कवि लिखते हैं—

सीखी कहा नवावजू ऐसी देनी देन।
ज्यों ज्यों कर ऊंचे करे त्यों त्यों नीचे नैन॥

अर्थात् एक सज्जन धनवान को अपना धन परोपकारार्थ अर्पण करके भी नम्र देखकर आश्चर्य प्रगट करता है उस पर वह जवाब देता है—

देने वाला और है जो देता दिन रैन।
लोग भरम मेरा करें याते नीचे नैन॥

मैं क्या देता हूं मुझे भी तो कोई देता है कि नहीं वही सबको दे रहा है किन्तु लोग व्यर्थ ही मुझे देने वाला समझ रहे हैं बस यही शर्म की बात है। सबको अपने २ भाग्य से मिला करता है। मतलब यह कि समझदार आदमी धन को अपना धन न मान कर अपने आप को एक भण्डारी के रूप में अनुभव करता है और

इसीलिये वह उसका सहयोग करते हुए भी निरभिमान एवं विनम्र होता है और इसीलिए वह उसे पूर्णतया त्याग करके अन्त में तपस्या के द्वारा अपने मनुष्य जन्म को सफल बना लेता है। अन्यथा तो तपस्वी वन कर भी अपनी उस तपस्या को केवल अपने मान की मरम्मत में ही खो देता है; जो सोचता है कि अब तो मैं तपस्वी बन गया, अब मेरे बराबर कौन है मैं सब से बड़ा, सबके द्वारा आदर करने योग्य हो गया हूं, इत्यादि। यह आदमी भले ही व्रत उपवासादि करके अपने शरीर को शोषण कर रहा हो, नाना प्रकार के काय क्लेश तप करता हो परन्तु अपने अन्तरङ्ग को शुद्ध नहीं बना पाता है।

यह संसारी मनुष्य शरीर की चेष्टावों को ही अपनी चेष्टायें समझता है इसलिए अगर वह असुन्दर होता है तो सुन्दर बनाने की कोशिश करता है, इसे धोता है, पूंछता है, तेल फुलेल लगाता है अनेक तरह के आभूषणों से सजाता है एवं इसे सुन्दर से भी सुन्दर बनाना चाहता है और जो लोग असुन्दर होते हैं उन्हें घृणित मान कर उनका अनादर करता है।

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

अभिमानी आदमी अपने अभिमान में आकर कर्त्तव्य शील इतर सभ्य पुरुषों का निरादर करता है। परन्तु इसे सोचना चाहिये कि यह उनका निरादर नहीं करता अपितु उनके बहाने से अपने आप के धर्म का ही अनादर कर रहा है, अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहा है क्योंकि धर्म धर्मात्माओं को छोड़ स्वतन्त्र नहीं रहा करता। मतलब यह कि अगर कोई आदमी गुणवान की कदर नहीं करता तो भी गुणवान के गुण कहीं चले नहीं जाते, उसके गुणों की कदर जो जानते हैं वे करते ही हैं। हीरे की कदर भीलनी नहीं जानती तो हीरा कम कीमत का थोड़े ही हो जाता है। भीलनी अपनी अनभिज्ञता को प्रगट कर रही है हीरे की कदर तो जौहरी जानते हैं। एक आदमी ने किसी को देख कर अपनी आँखें बंद कर ली तो इसे दीखने से रहा, उसे तो सभी लोग देख रहे हैं उनका क्या नुकसान है। जो गुणवान होना चाहे वह गुणवानों की कदर करे।

शरीर धारी प्राणियों के चार विभाग हैं देव मनुष्य तिर्यंच और नारकी। और इनमें मुख्यता से क्रोध मान माया और लोभ ये चार दुर्गुण हरेक के पल्ले होते हैं एवं ये चारों ही बुरे हैं फिर भी आम आदमी क्रोध को ही इनमें से सबसे बुरा समझा करता है किंतु देखना यह है कि वह क्यों और कब आता है? वह जभी आता है कि

सामने वाले से हमें कुछ तकलीफ होती है अतः उसको दबाने के लिए क्रोध किया जाता है और अजेय समझा जाता है तो बलपूर्वक उसे दबाना पड़ता है और जब वह हमारे दबाव में नहीं आता तो कभी-कभी खुद भी मर मिटने का विचार होता है अर्थात् क्रोध जभी किया जाता है जब सामने वाले को भी कुछ समझा जाता है। इसी प्रकार माया और लोभ का भी हिसाब है। मायाचार भी जभी होता है कि जब सामने वाले को अजेय समझकर भी हम जीतना चाहते हैं। लोभ में तो स्पष्ट ही दूसरे की कीमत हुवा करती है। परन्तु मान एक ऐसा दुर्गुण है कि इसके सद्भाव में मनुष्य दूसरे की कुछ भी कदर नहीं किया करता, इसलिए इन चारों में सबसे पहले नम्बर का दुर्गुण अभिमान ही है जिसका कि खास तौर से अधिकार मनुष्य वर्ग पर होता है। क्रोध का नारकियों में, मायाचार का पशुओं में और लोभ का प्राधान्य देवों में हुआ करता है। परन्तु मान मनुष्य को जकड़े हुए रहता है, जिसकी वजह से मनुष्य देखता हुवा भी अन्धा सा बना हुवा रहता है और इसीलिये इसे दर्शन का घातक माना गया है। अतः मनुष्य को चाहिये कि सबसे पहिले इसके ऊपर विजय प्राप्त करे क्योंकि इसको जीते बिना और सभी प्रयत्न बेकार होते हैं और इस एक ही

बुरी आदत को जीत लेने पर हर बातों में सहज सफलता प्राप्त हो सकती है सो ही कहा भी है—

यदि पापनिरोधोऽन्य—सम्पदाकिंप्रयोजनं
अथ पापाश्रवोऽस्त्यन्य—सम्पदाकिं प्रयोजनं ॥२७॥

मनुष्य में पापवृत्ति=खुदगर्जी=अभिमान की मात्रा का अभाव होना चाहिये फिर भले ही और कोई प्रकार की साधन सामग्री इसके पास मत हो तो भी इसे सब प्रकार से आनन्द प्राप्त होता है किन्तु अगर एक खुदगर्जी ने इसके दिल में घर कर रक्खा है तो और सभी तरः की सुख मामग्री होकर भी इसे सुख नहीं पहुंचा सकती है प्रत्युत बाधक बन जाया करती है। इस बात को समझने के लिये हम अपने पाठकों को श्री रामचन्द्र जी और रावण की याद दिलाना ही पर्याप्त समझते हैं। देखो श्री रामचन्द्र जी ने परोपकार भावना में ओत प्रोत होकर अयोध्या सरीखे राज्य को भी लात मार दी और अपने साथ कुछ भी न लेकर खुद आप अकेले ही वन को जाना स्वीकार किया किन्तु जहाँ भी वे पहुंचे आगे से आगे सब प्रकार के ठाठ उनके लिये तैय्यार मिलते रहे, विपत्तियाँ भी सम्पत्ति के रूप में परिणत होती चली गई और रावण जो कि खुदगर्जी पर तुल पड़ा था सब प्रकार से

सम्पन्न होकर भी कोई प्रकार सुख नहीं पा सका अन्त में उसे किस प्रकार आपत्ति भोगनी पड़ी वह किसी भी विचारशील से छिपी नहीं है। जितनी भी उसकी प्रजा थी वह सारी विरुद्ध हो गई यहाँ तक कि सहोदर भाई विभीषण भी साथ छोड़कर अलहदा हो गया एवं हताश होकर अकेले रावण को दुश्मन के हाथ बेमौत मरना पड़ा। इसी प्रकार कौरव और पाण्डवों को ले लीजिये। सब प्रकार से सम्पन्न होकर भी खुदगर्ज कौरवों को मुंहकी खानी पड़ी और सबके सब बुरी तरह से मौत के मुंह में जा गिरे और न्याय प्रिय परोपकारी पाण्डवों को विजय पताका प्राप्त हुई, पाँचों में से एक का भी बाल बांका न हो सका।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणां ॥२७॥

धर्म के प्रसाद से एक कुत्ता भी आगे स्वर्ग में जाकर देव हो जाता है और फिर उसी के जब पाप का उदय आ जाता है तो वही देव वापिस कुत्ते की अवस्था में आजा सकता है। यह तो हुई जन्मान्तर की बात अपितु इसी जन्म में आदमी जब अपनी आदत को न्यायानुकूल समुचित बना लेता है तो रङ्क से राजा बन सकता है एवं एक राजा होकर भी अन्याय करने लगे

तो वह अपने सिंहासन से उतार दिया जाता है भिखारी हो जाता है यही धर्म और अधर्म का फल है। धर्म और अधर्म को छोड़कर सम्पत्ति और विपत्ति कोई भिन्न चीज नहीं है। एक समय की बात है एक बाबू साहब की औरत थी जो कि सुशील थी घर का सब कार्य बड़ी होशियारी से करती थी बाबू जी की सेवा भी अच्छी तरह करती थी परन्तु सुबह के समय हर रोज दो घण्टे तक मन लगाकर भगवान का पूजन भी किया करती थी। यह बात बाबू जी को अखरी। बाबू जी ने उसे समझाया कि व्यर्थ ही टाइम क्यों खो दिया करती हो इस व्यर्थ ही भगवद्भक्ति में क्या तत्व है। परन्तु उसे तो रङ्ग लगा हुआ था वह कैसे छोड़ सकती थी इस पर से चिढ़कर बाबू जी ने एक वैश्य की लड़की से दूसरी शादी कर ली जिसका कि नाम मोहिनी था अब मोहिनी की माँ ने एक दिन विचार किया कि सुशीला बड़ी चतुर और सुन्दरी है कहीं ऐसा न हो कि बाबू जी को वापिस किसी दिन अपनी ओर झुकाले और मेरी लड़की को विन्दुःखी रहना पड़े। अन्त में उसने सोचते-सोचते एक युक्ति सोच निकाली। एक सपेरे से भयङ्कर काला सांप मंगवाकर उसे घड़े में धर कर सुशीला के पास ले गई और बोली कि आज मैं

तुम्हारे लिये एक फूल माला लाई हूँ। सुशीला ने घड़े में हाथ डाला और देखा तो वास्तव में माला बहुत ही सुन्दर है। उसने भद्रभाव से सोचा इसे मैं क्या पहनूं मेरी छोटी बहिन को ही पहनादूं ऐसा सोचकर मोहिनी के गले में डालदी, डालते ही वह वापिस काला सांप होकर मोहिनी को काट गया। यह देखकर बाबू जी फिर वापिस सुशीला से प्रेम करने लगे सब तरह से अनुकूलता हो गई। एक सत्य और सरल भाव की वजह से सब संकट अपने आप दूर होगया। मतलब यह है कि मनुष्य की उदारभावना ही मनुष्य के लिये सर्व सम्पति है वही उसके लिये सब तरह की अनुकूलता का साधन होता है। अतः समझदार आदमी अपनी मनोवृत्ति को उदार बनाये रखने की चेष्टा करता है उसे बिगड़ने नहीं देता अगर वह ठीक हुई तो फिर और किसी की प्रतीक्षा में नहीं रहता।

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनां।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥८७॥

जो ऊपर लिखे अनुसार स्वावलम्बी बन चुका है जिसे अपने आपके ऊपर भरोसा है जो अपने सुख दुःख का विधाता अपने आपको मानता है उसी के सत्य और सरल भाव की वजह से सब संकट अपने आप दूर होगया।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपिमातङ्गदेहजं।
देवादेवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसं ॥२८॥

व्यवहार में प्रायः हम देखते हैं कि लोग ब्राह्मण के लड़के से प्रेम करते हैं उसे पण्डित जी कह कर उसका आदर किया करते हैं परन्तु एक चाण्डाल को देखकर घृणा करने लगते हैं उससे दूर रहने की चेष्टा करते हैं सो क्यों ? बात यही कि ब्राह्मण का लड़का जन्म से ही एक अच्छी सुहबत में रहने के कारण अपने सदाचारी पिता की सङ्गति से सहज सदाचारी अच्छी आदत वाला बन जाता है और चाण्डाल शुरू से ही बुरी आदतों का आदी होने के कारण घृणास्पद हो जाता है।

एक समय एक राजा साहब की महफिल में गाने बजाने के लिये एक वेश्या गई उसके साथ पिंजड़े में एक तोता था उसने राजा को देखते ही गालियां देना शुरू की राजा को गुस्सा आया, वह बोला तोते को मार डाला जावे, तोते ने चालाकी से कहा हुजूर मुझे मेरे भाई से मिलाकर कुछ कह देने के बाद मुझे मारा जावे मेरा भाई अमुक पण्डित जी के पास है। उसे बुलाया गया, आते ही वह तोता अच्छी २ वेद की ऋचायें सुनाने लगा। राजा खुशी हुए और बोले इसे इनाम दिया जाय। पहले वाला तोता बोल उठा हुजूर! इसे इनाम और मुझे मौत

ऐसा क्यों ? हम दोनों एक ही माता के पूत तो हैं किन्तु मैं इस वेश्या के यहाँ पला इसलिए गालियाँ देना सीख गया और यह इन पण्डित जी के यहां रहने से इनसे अच्छे २ श्लोक पढ़ गया। मतलब कहने का यह कि इसी प्रकार मनुष्य भी अनुकरण शील होता है इसे जैसी सङ्गति मिलती है वैसा ही बन जाया करता है। चाण्डाल के लड़के को भी अगर सत्सङ्ग मिल जाय और सत्सङ्ग में पड़कर अगर वह भी अपनी आदत को ठीक करले अपने मन में अहिंसा को स्थान दे, परोपकार की तरफ झुके तो फिर वह भी घृणा का स्थान न होकर आदर करने योग्य होता है ऐसा हमारे महापुरुष कह गये हैं जैसा कि पद्मपुराण में भी लिखा है—

न जातिर्गर्हिता लोके गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चाण्डालमाचार्या ब्राह्मणं विदुः।

मतलब यही कि जाति किसी का भला बुरा करने वाली नहीं है। जो गुणों को ग्रहण करता है वही गुणवान बन जाया करता है अतः सर्वसाधारण की दृष्टि में भले ही वह चाण्डाल हो किन्तु बुद्धिमान आचार्य लोग उसे चाण्डाल नहीं समझते क्योंकि उसकी आत्मा उन्नत विचारों को लिए हुए है। किसी का भी दूसरा सुख दुःख देने में समर्थ नहीं है ऐसा जिसकी आत्मा में पूर्ण

विश्वास है, फिर उसे दूसरे किसी की खुशामद करने या किसी से डरने की क्या जरूरत है, कुछ नहीं। तब फिर वह—कौ पृथिव्यां दीव्यन्तीति कुदेवाः दुनियांदारी की बातों में ही आनन्द मानने वाले या बताने वाले कुदेव, दुनियाँ की बातों का ही गुण गान करने वाले कुशास्त्र एवं दुनियांदारी की बातों पर चलकर भी अपने आपको महन्त कहलाने वाले कुलिङ्गी लोगों को उभारना तो दूर रहा उन्हें याद करना भी उसकी आदत से बाहर की चीज हो जाती है। वह तो अपने आत्म विश्वास पर दृढ़ रहता है सोचता है कि अगर कोई भी देवी देव पीर पैगम्बर या और कोई शक्ति, किसी का भला करने वाली होती तो फिर यह दुनियाँ इस प्रकार परेशान क्यों बनी रहती, परन्तु नहीं ऐसा नहीं है। अपितु यह जीवात्मा जैसा खुद कर्तव्य करता है वैसा उसका फल स्वयं भोगता है। जो मिश्री खाता है उसे मिठास आता है और जो मिर्च खाता है उसी का मुंह जलता है।

एक समय की बात है कि दो किसान मित्र थे एक भगवद्वादी और दूसरा आत्मवादी। चतुर्मास का समय आया, मेघ वर्षा हुई। आत्मवादी बोला चलो भैया खेत जोतने चलें। भगवद्वादी बोला हमें तो हमारे भगवान् का भरोसा है उसकी दया से सब कुछ हो जायगा हमें

करने की क्या फिक्र है। अस्तु। आत्मवादी ने जाकर खेत जोता, बीज बोया उचित रखवाली की तो जैसा बीज बोया था, उसी के अनुसार बाजरी की जगह बाजरी, मूंग की जगह मूंग और मौठ की जगह मौठ सभी अनाज पैदा हुये किन्तु जो भगवान भरोसे बैठा रहा उसका खेत ऊसर का ऊसर बना रहा। मतलब यह कि जैसा हम करेंगे वैसा भरेंगे ऐसा सोचकर समझदार आदमी तो हर समय अपने आपके कर्तव्य को सम्भालता है और उसी पर विश्वास रखता है एवं उस विश्वास के अनुसार चलकर सफलता प्राप्त कर लेता है।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३०॥

मनुष्य के हरेक कार्य में तीन बातें सन्निहित होती हैं भरोसा रखना, उसे विचारना और तदनुकूल चेष्टा करना। परन्तु इन तीनों में पहला नम्बर विश्वास भरोसा का है बाकी के दोनों उसके अनुसार चलने वाले हैं प्रायः सभी जानते हैं कि अन्याय पाखण्ड करना विश्वास घात करना बुरी बात है किन्तु हृदय में विश्वास बैठा हुआ है कि बिना झूठ पाखण्ड किये काम नहीं चल सकता अतः अनायास वैसी ही प्रवृत्ति होती है और ज्ञान भी वैसा ही काम करने लग रहा है। एवं हम अपनी प्रवृत्ति को

ठीक करना चाहें या ज्ञान को भी ठीक रास्ते पर लगाना चाहें तो उससे पहले अपने विश्वास को ही बदलकर ठीक बनाना होगा क्योंकि—

विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिर्वृद्धिफलोदयाः
नसन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावेतरोरिव ॥३२॥

जैसे किसी भी गाछका उगना, लगना, बढ़ना, छायादार बनना और फल देना उसके बीज पर निर्भर होता है जैसा अच्छा बीज बोया जायगा वैसा ही अच्छा वृक्ष भी फले फूलेगा। बीज अगर सड़ा गला होगा तो वृक्ष उगना ही कठिन है फिर उसका बढ़ना और फल देना तो दूर की बात है। उसी प्रकार आचार विचार का होना और फल देना भी विश्वास के अधीन है अगर मनुष्य का विश्वास ठीक नहीं है गन्दा है तो उसके आचार विचार भी गन्दे ही होंगे। और विश्वास ठीक ठीक है तो फिर आचार विचार के ठीक होने में और सफल बनने में देर नहीं लगती। मतलब यह कि जब तक इस जीवात्मा के दिल में यह विश्वास जमा हुआ है कि ये दुनियाँ की चीजें ही तुझे सुख दुःख देने वाली हैं तब तक भले ही यह किसी के कहने सुनने से किसी भी प्रकार के प्रलोभन में आकर, त्याग तपस्या ग्रहण करले परन्तु वह उसका त्याग सिर्फ बाहिरी त्याग होगा कायिक

त्याग कहलायगा मन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है एवं वस्तुतः वह त्याग त्याग नहीं हो सकता। वह तो वैसा ही त्याग है जैसा कि एक अपथ्य सेवी रोगी का वैद्य के दबाव में आकर अपथ्य सेवन न करना क्योंकि वह मन चला रोगी वैद्य के इधर उधर होते ही उसी अपथ्य सेवन से प्रत्युत अपना अधिक बिगाड़ कर लिया करता है वैसे ही उपर्युक्त त्यागी भी समय पर फैल हो जाता है। हाँ इससे कहीं वह अच्छा होता है जो कि इस सांसारिक ठाठ को हेय समझता है किन्तु हेय समझ कर भी किसी कारण विशेष से इसे छोड़ने में असमर्थ है। क्योंकि जहां इसकी वह असमर्थता दूर हुई वहीं यह झट उससे दूर हट जायगा फिर उसे कभी भी नहीं ग्रहण करेगा। सो ही कहा भी है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैवमोहवान।
अनगारोगृही श्रेयान निर्मोहो मोहिनामुनेः॥

मान लो दो रोगी हैं एक तो बुखार का दूसरा खांसी का। बुखार वाले रोगी से वैद्य ने कहा तुमको चिरायता पीना चाहिये तभी बुखार मिटेगा अब वह चिरायता पीता है फिर भी सोचता है कि यह चिरायता पीना मेरा कब छूटेगा वह उस चिरायता को हेय समझता है परन्तु बुखार हटाने के लिये पीता है जहाँ बुखार

दूर हुई और उसे वह छोड़ देगा फिर कभी भी उसे नहीं पीवेगा। एवं खांसी के रोगी को वैद्य ने कहा तुम्हें दही नहीं खाना चाहिये जब तक कि खांसी दूर न हो। तो वह यद्यपि दही नहीं खाता है उसे त्याग रक्खा है तो भी सोचता है किस दिन खाँसी मिटे और कब दही खाँऊ और जहाँ खाँसी मिटी और दही खाने लगेगा। दोनों के विचार में बड़ा अन्तर है एक खाते हुए भी उसे छोड़ना चाहता है और दूसरा उसे छोड़कर भी स्वीकार करने में तत्पर है। उसी प्रकार एक आदमी तो वह है जो घर गृहस्थ के धन्धे में फसा हुवा है फिर भी उसे छोड़ना चाहता है, उसे समय की देन समझकर लाचारी से करता है। दूसरा वह है जिसने घर गृहस्थ के धन्धे का करना छोड़ दिया है किन्तु मन और इन्द्रियाँ जिसकी काबू में नहीं हैं त्यागी होकर भी जिसका मन दुनियां दारी की बातों में ही जाता है तो यही कहना होगा कि वह गृहस्थ होकर भी त्याग मार्ग की तरफ है और यह त्यागी होकर भी त्यागी नहीं। वह मुक्ति-मार्गी है और यह संसार की तरफ दौड़ने वाला। केवल मूढ़ मुढ़ालेने और घर छोड़कर वन में रहने मात्र से कोई त्यागी नहीं हो सकता, त्याग का सम्बन्ध तो मन से है

मन को मूंड़कर त्यागी हो सकता है, अन्यथा तो वह त्याग की विडम्बना है यथा—

मूड़ मूड़े में तीन गुण सिर की रही न खाज।
खाने को लड्डू मिले महाराज का ताज॥

करने धरने को कुछ नहीं और वाहवाही मिल जाय फिर क्या चाहिये इसी में तो मौज है। अन्यथा तो फिर अपने मन के विकारों को दूर करना और इन्द्रियों को उत्पथ में न जाने देना यही सच्ची तपस्या है। जैसे भी बने अपनी आत्मा में बुरी वासना को स्थान नहीं करने देना, अपने चाल चलन को सरल बनाना इसी में भलाई है।

वनेऽपि दोषाः प्रभन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अवद्यमुक्ते पथि गच्छतो भवेद्विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं॥

सिंह शार्दूल चीता वगैरह या भील व्याध वगैरह वन में रहकर भी पापोपार्जन किया करते हैं परन्तु सभ्य पुरुष अपने चित्त को नियन्त्रित करके घर में रहता हुआ भी पापाचार से बचा रहता है। बात दर असल ऐसी है कि मोहममता ही अनर्थ का मूल कारण है और निर्मोहता पुनीतता का।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्येत्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समंनान्यत्तनूभृतां॥३४॥

एक रोज आपस में दस मित्र मिलकर गङ्गा स्नान करने को गये और गङ्गा स्नान करके जब वापिस लौटने लगे तो उनमें से एक ने कहा भैय्या जरा देख तो लो हममें से कहीं कोई रह न गया हो और गिनने लगा। अपने मित्रों को खड़े करके नम्बर वार गिनता है तो नौ होते हैं तो कहता है देख लो मैंने कहा वही हुआ हममें से एक कौन रह गया। दूसरे ने कहा तुम भूलते हो मुझे गिनने दो वह भी उसी प्रकार गिनता है नौ होते हैं। इसी तरह क्रम से सभी गिन जाते हैं किन्तु नौ ही होते हैं क्योंकि वे सभी अपने आपको नहीं गिनते, भूल जाते हैं। सभी बड़ी चिन्ता में हो जाते हैं। बस यही हाल हम सब संसारी मनुष्यों का है हम औरों को सम्भालते हैं किन्तु अपने आपको नहीं सम्भाल पाते। वह वैसा है और यह ऐसा, अमुक गुस्सेबाज है तो अमुक धोकेबाज, उसमें वह कमी है तो इसमें यह इत्यादि परन्तु यह नहीं सोचते कि हम कैसे हैं—हमारे में सारी ही कमी है। बस यही भूल है। इसी को पुराने लोगों ने मिथ्यात्व शब्द से कहा है और इसी से हम सब परेशान हो रहे हैं। इसके बदले हम सब अगर अपने आपको सम्भालें अपनी कमी की तरफ निगाह डालें और उसे पूरा करने की चेष्टा करें तो फिर कुछ कमी

नहीं रहे और सभी अमन चैन में हो जाँय परन्तु ऐसा करने से हम अभी बहुत दूर हैं। जैसे आँख हमारी चन्द्रमा के कलङ्क को देखा करती है किन्तु अपने आप में होने वाले काजल को नहीं देखती। उसी प्रकार हम दूसरों के दोषों को देखते हैं अपितु हम खुद दोषों के भरे हैं इसका कुछ विचार नहीं करते अपने आपको दोषी होकर भी निर्दोष मान रहे हैं यह मिथ्याभिमान ही हमारे सत्य पर पहुँचने में बाधा डाल रहा है और इसी से हम दुःखी हो रहे हैं क्योंकि सत्य को प्राप्त किये बिना सुख नहीं और सत्य सही पर आ जाय तो फिर कोई दुःख नहीं।

एक बार एक आदमी किसी कार्य वश ग्रामान्तर को गया, वहाँ से वापिस लौटते समय रात हो गई। उसके साथियों ने कहा अभी मत जाओ रात में जाना ठीक नहीं, रास्ते में पिशाच भूत का डर है। लेकिन उसने नहीं मानी, रवाना होगया। थोड़ी दूर आगे आकर उसे एक ठूठ दिखाई दिया यद्यपि रात चाँदनी थी किन्तु चाँद के ऊपर बादलों का आवरण आ जाने से अन्धेरा हो रहा था अतः उस ठूठ को भूत राक्षस मानकर वह आगे बढ़ने से रह गया और डर के मारे कांपने लगा, सोचता है मित्रों ने कहा था रास्ते में भूत

है सो वही यह आगया है अब क्या करूं ? इतने में ही चाँद पर से बादल दूर हो जाने से प्रकाश होगया तो मालूम हुआ कि यह तो ठूंठ है मैंने तो गलती से इसे भूत पिशाच मान लिया था। ऐसा सोचकर बड़ा खुश हुआ आगे बढ़ा और अपने मकान पर पहुंच गया। इसीप्रकार सत्य मार्ग पर चलने वालों की बात तो एक निराली ही है किन्तु सिर्फ सत्यमार्ग को पहिचानने वाले लोग भी दुनियाँ में आदरणीय होते हैं वे लोग दुनियादारी में रहकर अच्छी अवस्थाओं को प्राप्त करने वाले होते हैं उन्हें हीन दशा कभी प्राप्त ही नहीं होती। सो ही कहते हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।३५।

अपनी भूल को सुधार लेना तो बहुत ही उत्तम बात है किन्तु जो लोग भूल को समझ चुके हैं वे लोग भी नारकीपने को, पशुपने को, नपुंसकपने को, स्त्रीपने को, हीन कुल को, विकलाङ्गपने को, अल्पायु को और दरिद्र अवस्था को कभी प्राप्त नहीं होते। वे कैसे और किस अवस्था के धारक होते हैं सो बताते हैं—

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

वे लोग कान्तिमान् तेजस्वी बुद्धिमान् ताकतवर यशस्वी विजयशील और वैभव सम्पति के धारक होते हैं, उत्तम कुल में जन्म लेते हैं, बड़े उन्नत विचारों वाले होते हैं एवं सब लोगों में आदर्श गिने जाने वाले होते हैं, यहाँ से स्वर्ग में जाकर जन्म लेते हैं।

अष्टगुणपुष्टितुष्टादृष्टिविशिष्टाप्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसांपरिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

अपने शरीर को बिल्कुल छोटा बना लेना या एकदम बड़ा बना लेना, खूब ही हल्का कर लेना या बहुत वजनदार बना लेना, एकाएक छुप जाना, दूसरों को अपने वश में कर लेना, प्रभाववान होना और प्राकाम्य वाञ्छित प्राप्त करना ये आठ गुण देवताओं में खास तौर से होते हैं; किसी में कम और किसी में ज्यादा, किसी न किसी रूप में इनकी सत्ता हरएक देव में पाई जाती है। परन्तु उपर्युक्त महापुरुष स्वर्ग में जाकर जन्म लेते हैं तो उनमें ये गुण स्वर्ग के इतर देवों की अपेक्षा उत्तम से भी उत्तम होते हैं एवं स्वर्ग के इतर देवी देवों से आदरणीय होकर तथा अनुपम अद्वितीय शोभा के धारक होकर वहाँ पर बहुत लम्बे काल तक ऐन्द्रियक सुख भोगते हैं। वहाँ से आकर मनुष्य योनि में जन्म धारण करते हैं सो भी—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रं ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ।३८।
अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नुतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ।३९

या तो नव निधि और चौदह रत्नों के धारक होकर सम्पूर्ण क्षत्रियों के शिरोमणी होते हुए सार्वभौम चक्रवर्ती होते हैं। अथवा इन्द्र चक्रवर्ती और बड़े बड़े ऋषि महर्षियों द्वारा भी जिनके चरण पूज्य होते हैं ऐसे सम्पूर्ण संसार के प्राणियों के लिये आश्रयभूत धर्म चक्र के धारक महानुभाव होते हैं। अन्त में नियम से लोक व्यवस्था से उदास होकर लोकातीत अतीन्द्रिय परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं सो ही बताते हैं—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कं ।
काष्टागतसुखविद्याविभवं विमलंभजन्ति दर्शनशरणाः ।४०।।

जहाँ पर किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता, जिसमें बुढ़ापे के लिए कोई स्थान नहीं होता, जिसका एक बार प्राप्त हो जाने के बाद फिर कभी अभाव नहीं हो पाता और जिसमें कोई भी प्रकार अड़ङ्गेबाजी नहीं करनी पड़ती, जहां पर शोक और भय का तो नाम लेश भी नहीं है, जहाँ पर अखीर दर्जे के सुख तथा अखीर दर्जे के ज्ञान का प्रसार होता है, जहाँ पर

अन्तरङ्ग और वहिरंग दोनों ही तरह के मल का बिल्कुल सद्भाव नहीं होता अर्थात् जिसमें दूसरी चीज का मिश्रण जरासा भी नहीं रहता, आत्मा की ऐसी सुन्दर अवस्था का नाम शिव है। वह शिव सत्य पथ के अनुयायी उपर्युक्त महापुरुषों को ही प्राप्त हो सकता है। एवं च

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं।
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयं॥
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं।
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैतिभव्यः॥४१॥

एक सच्चे विचार का आदमी अपूर्व महिमा वाले इन्द्रपद को, समस्त राजाओं के द्वारा आराध्य चक्रवर्तिपने को और समस्त संसार के लोगों से आदर योग्य धर्माधिकारीपने को प्राप्त होकर अन्त में शिवपद को प्राप्त कर लेता है।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यंविनाच विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥४२॥

नौ और नौ अठारह होते हैं उन्हें सत्रह बनाने वाला भी और उन्नीस समझने वाला भी समझदार नहीं कहा जा सकता। एवं सीप को चाँदी या चाँदी को सीप बताने वाला भी गलती पर है, जानकार नहीं हो सकता इसी प्रकार जो किसी चीज को लेकर असमंजस में

पड़ा हुआ है कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता वह तो भूल ही रहा है। क्योंकि जो चीज जैसी है उसे ठीक वैसी ही समझना समझदारी या बुद्धिमानी है। उसी का नाम ज्ञान है। उसके दो भेद हो सकते हैं एक स्वार्थ और दूसरा पदार्थ; इसी को क्रम से अनुभव और श्रुत भी कह सकते हैं। इन दोनों में परस्पर साध्य साधक भाव है। महानुभावों के अनुभव से श्रुत निष्पन्न होता है और श्रुत के द्वारा औरों को अनुभव मिलता है। जिसको हम चार भागों में बांट सकते हैं—पहिला प्रथमानुयोग जिसमें ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियों के द्वारा एवं उसके साथ २ कुछ इधर उधर की बातों के द्वारा हमको विपरीत मार्ग से हट कर आदर्श मार्ग की तरफ चलने का इशारा मिलता है। दूसरा वह जिसमें एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर किस प्रकार कैसा क्या प्रभाव पड़ता है उस बात का पता चलता है उसे करणानुयोग कहते हैं। तीसरा वह जिसमें बताया जाता है कि मनुष्य को शान्त और सुखी बनने के लिए अपना चाल चलन कैसा बनाना चाहिए और किन बातों से बचते रहना चाहिये और चौथा वह जिसमें सम्पूर्ण विश्व के पदार्थों का रूप दिखाया जाता है। इसी को नीचे क्रम से चार श्लोकों में दिखाते हैं—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

प्रथमानुयोग में मनुष्य के करने योग्य-धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का वर्णन होता है, महा-पुरुषों की जीवनियाँ लिखी हुई होती हैं पुरानी बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है और वह ऐसे ढङ्ग से लिखा गया हुआ होता है कि लोग उसे पढ़कर अच्छे मार्ग पर लगें। एवं जिसमें स्थान स्थान पर सन्मार्ग का और उस से प्राप्त होने वाली सुख शाँति का भी वर्णन एक अच्छे ढंग से किया हुआ रहता है जिसको कि पढ़कर यह मनुष्य व्यवहार चतुर बन जाता है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिवतथामतिरवैतिकरणानुयोगं च ॥४४॥

इस सृष्टिका आकार प्रकार क्या है, यह स्वतः सिद्ध है या इसे किसी ने बनाई है, इस सृष्टि से परे भी कोई चीज है या नहीं? युगों का परिवर्तन कब किस प्रकार और क्यों हुआ करता है? इस जीवात्मा के जन्म लेने योग्य-नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव नाम की गतियाँ कैसे और किस प्रकार प्राप्त होती हैं इत्यादि बातों का वर्णन जिसमें हो उसे करणानुयोग कहते हैं। इसे पढ़कर मनुष्य बुरी गति से बचने और अच्छीगति

प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है और यह भी अन्दाजा लगा सकता है कि मैं अमुक गति से तो आया हूं और अमुक में जाकर जन्म लूंगा।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

चरणानुयोग में गृहस्थ और गृहत्यागी के आचार विचार का वर्णन होता है। कोई भी आदमी किस उपाय से सदाचार को प्राप्त करे, किस तरह से उसकी रक्षा करे और किस प्रकार से उसे पल्लवित करे इन सब बातों का खुलासा किया हुआ है। जिसे जानकर आदमी बुरी आदतों से बचकर भली आदतों को अपना ले सकता है।

जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

द्रव्यानुयोग में जीव और अजीव पदार्थों का, पुण्य और पाप का एवं बन्ध और मोक्ष का स्पष्टीकरण किया हुआ होता है। इस द्रव्यानुयोग के दो भेद किये जा सकते हैं एक हेतुवाद और दूसरा अहेतुवाद। हमारे सामने दो तरह के पदार्थ आते हैं, एक तो वे जिनको हम अपनी युक्ति द्वारा सत्य साबित करके सामने वाले के दिल में बैठा सकते हैं जैसे मान लो कि हमारी एक बिलकुल नये अपरिचित आदमी से भेंट हुई और उससे परिचय पाने के लिये हमने पूछा कि आपका क्या नाम

है ? और आपके पिताजी का क्या ? इस पर अगर वह कहे मेरे पिता तो हुये ही नहीं। मैं तो बिना बाप का हूं तो उसके इस कहने को न मानकर हम यही कहेंगे कि आप गलत कहते हो क्योंकि बिना बाप के कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता। यह बात दूसरी कि आप के बाप इस समय मौजूद न हों या उनके नाम को तुम न जानते हो। बस इसी का नाम हेतुवाद या युक्ति-सिद्ध है। परन्तु कितने ही ऐसे पदार्थ होते हैं जिनमें हमारी युक्ति काम नहीं देती फिर भी हमें उन्हें मानना ही पड़ता है उसका निषेध भी हम नहीं कर सकते जैसे दीपक से काजल पैदा होता है। दीपक प्रकाशमान भासुर चीज है और उससे पैदा होनेवाला काजल बिलकुल काला होता है ऐसा क्यों होता है हम नहीं कह सकते लेकिन होता है यह मानना ही पड़ता है। बस इसे सिद्धान्त कहते हैं। हेतुवाद को न्याय नाम से भी कहते हैं और ये दोनों ही द्रव्यानुयोग में माने गये हैं जिससे सम्पूर्ण पदार्थों का ठीक २ ज्ञान होता है और जिसे पढ़कर यह जीवात्मा स्वावलम्बी बनता है एवं विवेकशील होता है। मनुष्य के लिये स्वावलम्ब और विवेक ये गुण सर्वोत्तम गुण हैं और सभी गुण इनके पीछे के हैं। इस बात को समझने के लिये हम अपने पाठकों के आगे कुत्ता और

सिंह का उदाहरण रखते हैं। देखो कुत्ते में कृतज्ञता वगैरह कितने ही अनुकरणीय गुण होते हैं और सिंह में मारकता वगैरह दुर्गुण, फिर भी किसी भी आदमी को कुत्ता कहकर पुकारा जाय तो वह बड़ा नाराज होता है। और अगर उसे सिंह की उपाधि दी जाय तो प्रसन्नता के मारे फूल जाता है इसका क्या कारण? यही कि सिंह में स्वावलम्ब और विवेक दोनों हैं किन्तु कुत्ता इनसे रहित है। सिंह अपनी खुराक अपने आप प्राप्त किया करता है अपितु कुत्ता पराये टुकड़े की इन्तजारी करता है। सिंह को जब कोई मारता है तो वह गोली की कोई परवाह न करके सीधा गोली चलाने वाले की तरफ को दौड़ता है वह सोचता है इस बिचारी गोली का क्या कसूर है अपराधी तो गोली चलाने वाला है। लेकिन विचारे कुत्ते में इतना विवेक नहीं होता, उसे कोई लकड़ी मारता है तो यह मारने वाले की तरफ न देखकर लकड़ी को ही चबाने लगता है। बस उसका यह अविवेकीपन और परावलम्ब उसे दुनियाँ की नजरों में गिराये हुये है और सिंह इन दोनों दुर्गुणों से रहित है वह स्वालम्बी और विवेकशील होता है इसीलिये दुनियाँ के लोग उसे अच्छा समझते हैं।

इस प्रकार वाणी भूषण ब्रह्मचारी पं० भूराम[illegible] लिखित मानव धर्म में सद्विवेक नाम का पहला अधिकार समाप्त हुआ।

सस्ती ग्रन्थमाला के प्रकाशित ग्रन्थ

१. पद्मपुराण	७)	१४. जैन शतक		≈)
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार	५)	१५. उपासना तत्त्व		=)
३. मोक्ष मार्गप्रकाशक	३)	१६. मैं कौन हूँ		-)
४. श्रावक धर्म संग्रह	१।।)	१७. मेरी भावना		)।।।
५. कल्याण गुटका	१।।)	१८. ज्ञान कोष		१।)
६. महिला शिक्षा संग्रह	१।)	१९. प्रश्नोत्तर ज्ञान सागर		
७. नाटक समयसार	१।)		प्रथम भाग	।।=)
८. सुख की झलक	।।।)	२०. प्रश्नोत्तर ज्ञान सागर		
९. सरल जैन धर्म ४ भाग	।।=)		द्वितीय भाग	।।=)
१०. छहढाला सार्थ	।)	२१. स्वास्थ्य विधान		।।)
११. भजन संग्रह	।)	२२. बृहत समाधि मरण		।)
१२. वैराग्य प्रकाश	।)	२३. ब्रह्मचर्य रहस्य		।)
१३. देशधर्म लावनी	।)	२४. जैन शासन का मर्म		।)

पत्र व्यवहार का पता—

सस्ती ग्रंथमाला C/o
मैसर्ज़ घूमीमल धर्मदास
चावड़ी बाज़ार, देहली।

पुस्तक मिलने का पता—

सस्ती ग्रंथमाला, धर्मपुरा
नया मन्दिर, देहली।